आत्मान्वेषी

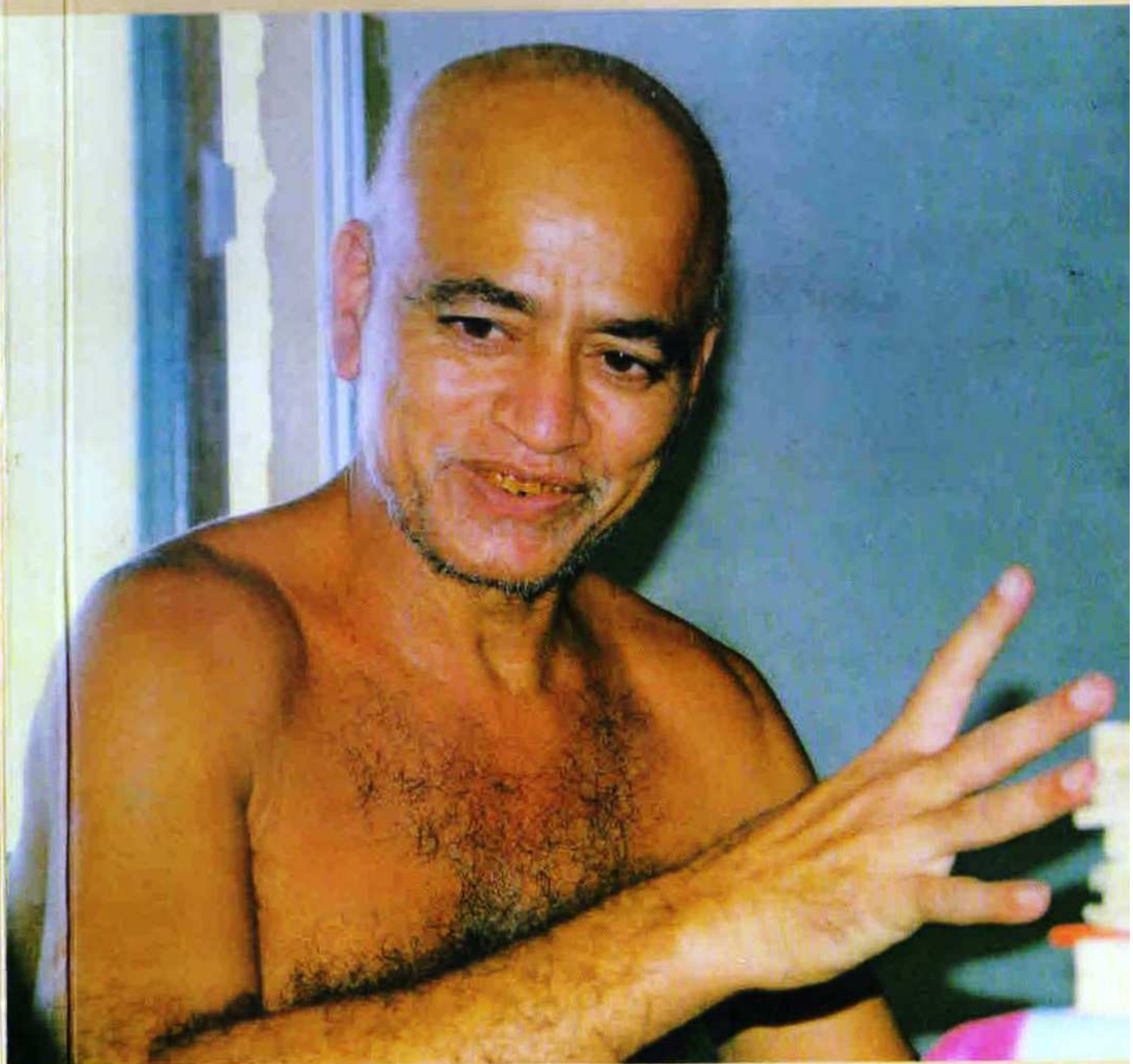

आचार्यश्री विद्यासागरजी

- मुनि क्षमासागर

प्रस्तुत पुस्तक एक असाधारण संत का असाधारण जीवन वृत है। सन् 1958 में हमने गोमुख की पैदल यात्रा की थी। गोमुख भागीरथी का उद्‌गम है। गंगोत्री से गोमुख जाते हुए ऐसा प्रतीत हुआ मानों हम किसी देवलोक में विचरण कर रहे हैं। मन के किसी भी कोने में मलिनता का लेश नहीं रहा। ऐसी निर्मलता जीवन में शायद ही पहले कभी अनुभव हुई हो। कुछ ऐसी ही अनुभूति 'आत्मान्वेषी' को पढ़ते समय हुई।

माँ के माध्यम से लेखक बालक विद्याधर से अपनी यात्रा आरंभ करके आचार्य विद्यासागर की चरम परिणति तक पाठक को पहुँचा देता है। वस्तुतः यह पुत्र की यात्रा नहीं है धर्म की यात्रा है। अंत में अछूते दुर्लभ प्रेरक-प्रसंग सचमुच प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं।

– यशपाल जैन

...ल भवन शिवपुरी • ...ivpuri

आत्मान्वेषी

मुनि क्षमासागर

विद्या प्रकाशन मन्दिर

आत्मान्वेषी

मुनि क्षमासागर

विद्या प्रकाशन मन्दिर

ISBN 81-7135-017-8

आत्मान्वेषी

© लेखक	:	मुनि क्षमासागर
प्रथम तेरह संस्करण	:	20,400 प्रतियाँ
चौदहवाँ संस्करण	:	1100 प्रतियाँ, अगस्त 2015
प्रकाशक	:	विद्या प्रकाशन मन्दिर, नई दिल्ली
मुद्रक	:	जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., एम. आई. रोड, जयपुर
मूल्य	:	70 रुपये

प्राप्ति–स्थान :

1. गिफ्ट गारमेन्ट
   माधवगंज, विदिशा (म.प्र.)
   फोन : (07592) 232205, 237356

2. श्री पी. एल. बैनाड़ा
   1/205/IV, प्रोफेसर कॉलोनी,
   हरि पर्वत, आगरा (उ. प्र.)
   फोन : (0562) 2151127, 098370-25087

3. श्री हेमन्त सौगानी
   H-24, चितरंजन मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर
   फोन : (0141) 2375506-7, 098290-64506

समस्त
श्रमण-संघ को
समर्पित

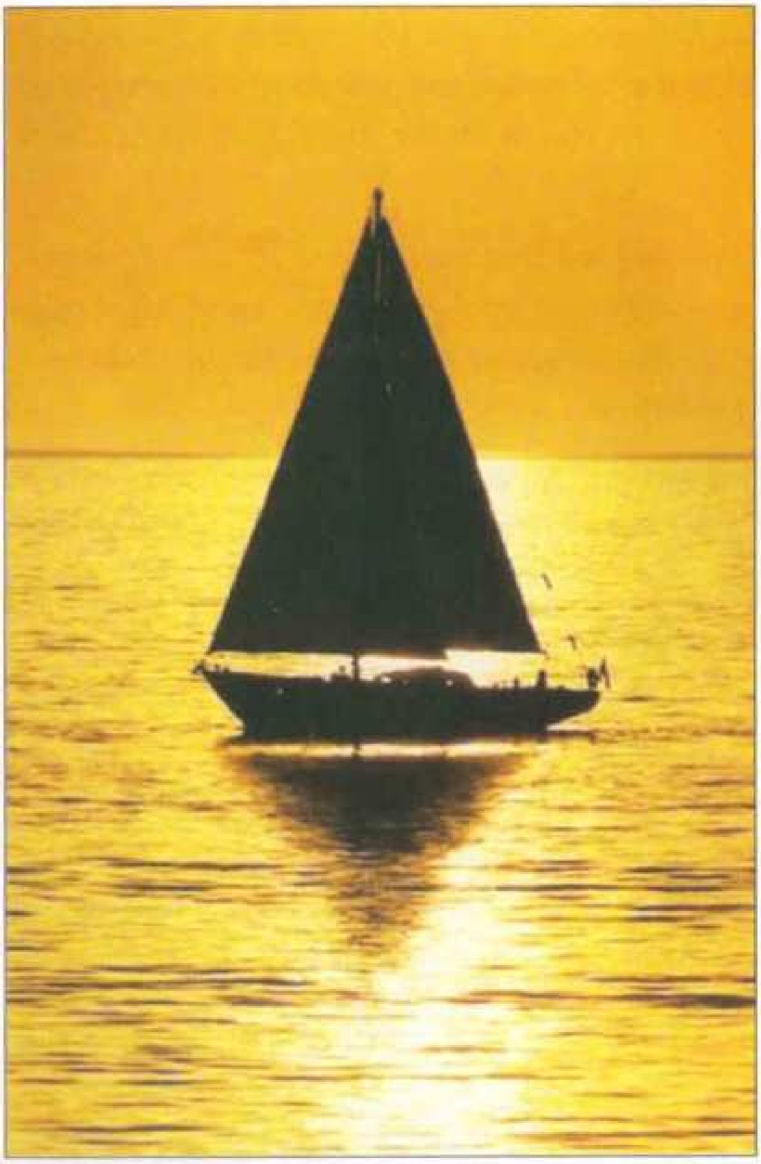

सागर का असीम विस्तार

पुरोवाक्

अपनी कल्पना के छोटे से फलक पर मैंने सागर की विभिन्न छवियों को अंकित करने की कोशिश की है। सुबह के धुंधलके में, दोपहर की खिली धूप में, ढलती शाम और चढ़ती रात के गहराते अँधेरे में, मैंने सागर के हर रंग को और उसकी हर तरंग को दिखाना चाहा है। सागर, विद्या का है और सचमुच सागर है। वह जरा भी कहीं, कम नहीं है। मेरे भावों की तूलिका यदि कहीं उसके विस्तार को असीम और अथाह न दिखा पायी हो, तो इसे मेरी सीमा या विवशता जानकर अपनी सहानुभूति देने से इन्कार मत करिएगा।

इसे पढ़ते-पढ़ते कहीं अपने संसार का बंधन और मन की गाँठ खुलती जान पड़े, तो मानिएगा आप ही सफल हुए हैं। मैं तो निमित्त मात्र हूँ, जो कलम थामे रहा और देखता रहा कि जीवन का कोई पृष्ठ ऐसा न रह जाए जिस पर आत्मान्वेषी : आचार्य श्री विद्यासागर न लिखा हो।

जिसकी सारी यात्रा निर्नाम होने की हो और जिसे देश कालातीत होना हो, उसे किसी नाम और देशकाल की सीमाओं में बाँधना संभव नहीं है; सो नाम, स्थान और समय की सही सीमाएँ निर्धारित न कर सका होऊँ तो क्षमा करिएगा। जो भी सुना/देखा वह सब इस लिखे हुए में आ नहीं पाया होगा, यह मैं जानता हूँ, और सत्य हमेशा अनलिखा ही रहा, यह हमेशा से सुनता आया हूँ, पर क्या करूँ ? 'गोमटेश-गाथा' के यशस्वी कथाकार श्री नीरज जैन निरन्तर लिखने का आग्रह करते रहे और हर बार उसका तकाजा करते रहे सो लिखता रहा। अब इस लिखे हुए को आप ही सँभालिएगा।

"कल यह लिखा हुआ सब पुराना हो जाएगा और अधूरा लगेगा, क्योंकि आचार्य महाराज नित-नूतन हैं। यह सब बहुत पीछे छूट जाएगा और वे बहुत आगे निकल जाएँगे, क्योंकि वे निरन्तर गतिशील हैं" - यह जानते हुए भी लगता है उनके जीवन के विषय में जो पढ़ा-सुना, उनका सामीप्य पाकर जो देखा और उनकी कृपा से जो पाया उसे सभी से कहने का सुख मैं भी पाऊँ। सभी के साथ मैं भी उनके गुण गाऊँ और एक नन्हा सा दीप उनके चरणों में चढ़ाऊँ। "विद्याधर से विद्यासागर" के सुधी लेखक सुरेश 'सरल' के आरती के दीप में इसे भी एक दीप मानकर शामिल करिएगा।

प्रारंभिक जीवन की घटनाएँ एक माँ अत्यन्त निकट से देखती/जानती है, सो वे सभी घटनाएँ माँ श्रीमती जी से ही कहलवा दी हैं। शेष जो उनके दर्शन से, उनके सामीप्य से मेरे भीतर अंकित होता गया, यह वही है।

– मुनि क्षमासागर

पुनश्च

(महत्वपूर्ण परामर्श देने व दुर्लभ चित्र उपलब्ध कराने में मुनि श्री अभयसागर जी का एवं संस्मरण एकत्रित कराने में मुनि श्री चन्द्रसागरजी का सहयोग कभी भूल नहीं पाऊँगा – लेखक)

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक एक असाधारण संत-शिरोमणि का असाधारण जीवन-वृत्त है। आचार्य विद्यासागर की कीर्ति-पताका आज सारे देश में फहरा रही है। वे जैनाचार्य हैं, किन्तु उनका प्रेम, उनकी करुणा और उनकी संवेदनशीलता किसी धर्म-विशेष तक सीमित नहीं है, वे सबके हैं, सब उनके हैं।

सन् 1958 में हमने गोमुख की पैदल यात्रा की थी। गोमुख भागीरथी का उद्गम है। गंगोत्री से गोमुख जाते हुए ऐसा प्रतीत हुआ मानो हम किसी देवलोक में विचरण कर रहे हैं। मन के किसी भी कोने में मलिनता का लेश नहीं रहा। ऐसी निर्मलता जीवन में शायद ही पहले कभी अनुभव हुई हो। कुछ ऐसी ही अनुभूति ''आत्मान्वेषी'' पुस्तक को बढ़ते समय हुई। लगा, जैसे किसी अलौकिक प्रदेश में किसी अलौकिक विभूति के साथ संचरण कर रहे हैं। जीवन की सम्पूर्ण पावनता मुखर हो उठी।

पुस्तक के लेखक हैं आचार्य श्री के परम शिष्य मुनि क्षमासागर। वैसे वे दिगम्बर साधु हैं, पर अपने गुरु के समान हृदय उन्होंने माँ का पाया है। जननी संतान को जन्म देती है, पर एक समय आता है, जब वह माँ बन जाती है और सबको अपने प्यार की प्रसादी देती है।

लेखक ने स्वाभाविक रूप से इस गाथा का वर्णन करने के लिए माँ को निमित्त बनाया है। लेखक की दृष्टि बड़ी पैनी है, परन्तु पुत्र के बहिरंग से अधिक अंतरंग झाँकी प्रस्तुत करने में माँ से अधिक सक्षम और कौन हो सकता है ? इसी से इस गौरव-गाथा को कहने के लिए उन्होंने माँ को चुना है।

माँ परिवार की एक विहंगम झाँकी पाठकों को देकर पुत्र-जन्म की बात कहती है और फिर बालक विद्याधर के साथ अपनी यात्रा आरम्भ करके विद्यासागर की चरम परिणति तक पाठक को पहुँचा देती है। वस्तुतः यह पुत्र की यात्रा नहीं है, धर्म की यात्रा है। जिस प्रकार तीर्थ-यात्रा में पड़ाव आते हैं, उसी प्रकार इस यात्रा में भी अनेक पड़ाव आए हैं। पहला पड़ाव बचपन का है। माँ बताती है कि पूत के पाँव पालने में ही दिखाई दे गए थे। बालक विद्याधर आरम्भ से ही धर्म के प्रति अनुरक्त है। वह विद्याध्ययन करता है, लेकिन उसका लक्ष्य पुस्तकीय ज्ञानार्जन न होकर आत्म-ज्ञान की उपलब्धि पर केन्द्रीभूत होता है। माँ कहती हैं, ''महाराज (गुरु ज्ञानसागर जी) के चरणों में बैठकर तुमने विधिवत अध्ययन आरम्भ कर दिया। सतत चिन्तम-मनन और भक्ति-भाव में खोया तुम्हारा मन बाहर की दुनिया को भूलता चला गया। गहन समर्पण ने तुम्हारे भीतर अदृश्य जगत् को देखने की दृष्टि पैदा कर दी। दृश्य जगत् के पीछे छिपे अदृष्ट-दृष्टा को देखना ही अब तुम्हारा ध्येय हो गया।''

बचपन से आरम्भ हुई कहानी आगे चलती गई। पड़ाव-पर-पड़ाव आते गए। बाईस वर्ष की युवावस्था में जब उन्होंने सीधे मुनि-दीक्षा ली तो सब चकित रह गए, किन्तु उनकी प्रतिभा ने सबका समाधान कर दिया।

दीक्षा लेने से पूर्व उन्होंने अपने गुरु महाराज के समक्ष जो शब्द निवेदित किए, वे आज भी रोमांचित कर देते हैं।

"मैं समस्त चराचर जीवों को क्षमा करता हूँ, सभी मुझे क्षमा करें। मैं अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के द्वारा प्ररूपित अनादिकालीन श्रमण-धर्म की शरण को स्वीकार करता हूँ। मैं समस्त पूर्वाचार्यों की शरण को स्वीकार करता हूँ। मैं दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसागर जी, आचार्य श्री वीरसागर जी, आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज की परम्परा में अपने साक्षात् गुरु श्री ज्ञानसागर जी महाराज की चरण-शरण को स्वीकार करता हूँ। पूज्य महाराज मुझे जैनेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहीत करें।"

माँ कहती हैं, "उस दिन अपने गुरु के साथ जब तुमने मोक्ष-मार्ग पर पहला कदम बढ़ाया तब लगा, मानो अचला कहलाने वाली धरा ने स्वयं चलकर तुम्हारे पग थाम लिए और कहा कि हे श्रमण ! यह रहे तुम्हारी विजय-यात्रा के प्रथम चरण। जाओ, और आत्म-आकाश में अनंत ऊँचाइयों पर अबाध विचरण करो।"

माँ अपने यशस्वी बेटे की जाने क्या-क्या बातें याद करती है।

"उस दिन शरद पूर्णिमा थी, जब तुमने मेरे घर जन्म लिया। लगता था, चन्द्रमा की चाँदनी तुम्हारी देह में समा गई है। हवाओं में झूलते तुम्हारे दोनों हाथ मानो आकाश को अपने में समेट लेना चाहते थे। मुझे लगा कि सचमुच आकाश मेरे आँचल में सिमट आया है। तुम्हें पाकर एक बार फिर अपने माँ होने का गौरव मेरे अंग-अंग को पुलकित कर गया।"

गौतम बुद्ध ने जब गृह-त्याग किया, यशोधरा से पूछा नहीं था। उसकी यशोधरा को बहुत समय तक शिकायत रही। मुनिश्री ने भी वही किया। घर में माँ थी, पर उनसे कहा नहीं; और चुपचाप घर छोड़कर चले गए। माँ के मन में क्षणिक पीड़ा होती है, किन्तु उसके पीछे पुत्र की दृष्टि उसके सामने उजागर हो जाती है। वह कहती हैं - "बचपन से ही मैं तुम्हें अपने-पराए सभी की पीड़ा से विगलित और अनुकम्पित होते देखती आई हूँ, सो आज तुम्हें यह उलाहना दे बैठी कि मुझसे बिना पूछे चले गए और मेरी पीड़ा का जरा भी ख्याल नहीं किया, पर नहीं विद्या, मैं तुमसे कुछ नहीं कहती। मैं जानती हूँ, तुम्हारी करुणा असीम है। यह तो मेरा ही मोह है, जो मुझे रुलाता है। वास्तव में, एक तुम्हीं तो हो, जो मेरी जनम-जनम की पीड़ा को जान गए हो और मुझे मोहपाश से मुक्त होने का संदेश देकर अकेली

छोड़कर चले गए हो। मैं समझ गई हूँ कि यहाँ सब अकेले हैं। अकेले ही आते हैं और अकेले ही चले जाते हैं। धर्म के सिवाय कोई तो नहीं है ऐसा जो हमारा सच्चा साथी हो सके।" "मातेव बालस्य हितानुशास्ता" – माँ की तरह बालक का हित चाहने वाले हे शास्ता! तुम्हारे चरणों में तुम्हारी माता का प्रणाम।

माँ एक बड़े सत्य की ओर इंगित करती है – "हम अपने मन का एक कोना बसाकर शेष जगत् के प्रति दायित्व से विमुख होकर भी स्वयं को दायित्ववान् मान लेते हैं, यह भारी भूल है। वास्तव में, अपने और समूचे लोक के कल्याण का दायित्व ही मनुष्य का सबसे बड़ा दायित्व है।"

आगे फिर वह कहती है – "जाओ विद्या, जाओ। मैं तुम्हें नहीं रोकती, तुम अपने इस सर्वश्रेष्ठ दायित्व को पूरा करो। तुम आत्म-विजेता बनकर अपने निज-घर पहुँचो। तुम्हारी माँ वहीं मुक्ति-द्वार पर तुम्हारे स्वागत के लिए आरती सजाये प्रतीक्षा करती मिलेगी।"

माँ की स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसकी संतान की घर-गृहस्थी बसे। बड़े होने पर विद्याधर के सम्बन्ध में माँ की वही स्वाभाविक इच्छा थी, परन्तु बेटे की संसार के प्रति विरक्ति देखकर वे चुप रह जाती थीं। उस समय उनकी जो भावना होती थी वह मन को भीतर से भिगो देती है – "लगता था कि जैसे एक पंछी को पिंजरे में रखकर दुलार तो किया जा सकता है, पर न तो उसे जीवन का आनन्द दिया जा सकता है और न ही उसे पिंजरे की दीवारों के बाहर खुले आकाश में उड़ने के लिए फड़फड़ाता देख स्वयं सुखी रहा जा सकता है। ऐसे ही यदि तुम्हें आकाश की अनन्त ऊँचाइयों पर उड़ना है तो मैं बाधक नहीं बनूँगी। आज देखती हूँ कि तुम अनन्त आत्म-आकाश में इतने ऊँचे पहुँच गए हो कि मैं चाहकर भी तुम्हें वापस अपनी गोद में बुलाने का साहस नहीं कर सकती।"

संयोग ऐसा बना कि जिन गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज ने उन्हें मुनि-पद पर प्रतिष्ठित किया था, उन्हें अपना पद अपने शिष्य को सौंपना पड़ा और सबने जो हृदयस्पर्शी दृश्य देखा, वह अकल्पनीय था। ज्ञानसागर महाराज अपने शिष्य को आचार्य पद देकर उनके चरणों में बैठकर निवेदन कर रहे थे – "हे आचार्य महाराज ! मैं अपना अंतिम समय समीप जानकर आपके श्रीचरणों में सल्लेखना की याचना करता हूँ। आप मुझ पर अनुग्रह करें।"

माँ लिखती हैं – "यह वीतरागता की पराकाष्ठा थी। अहं के विसर्जन और समर्पण की अद्‌भुत बेला थी। जिस अपने शिष्य को आज तक हाथ पकड़कर लिखना-पढ़ना, बोलना और चलना सिखाया, आज उसे ही अपना गुरु बना लिया। इतना ही नहीं, अपना शेष जीवन उसके सुदृढ़ हाथों में सौंप दिया।"

आचार्य श्री विद्यासागर साधना के पथ पर सतत अग्रसर होते गए। उनकी चर्या निर्दोष थी, उनकी साधना निर्दोष थी। फलतः उनकी आंतरिक उपलब्धियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गईं। अन्त में माँ के शब्दों में :

"प्रारंभिक दिनों में छत्तीस-छत्तीस घण्टे तुम्हारा एक ही आसन में अडिग रहकर आत्म-चिन्तन में खोए रहना, ठण्ड के दिनों में नदी के किनारे रेत पर रात गुजारना और बिना खबर दिये ही अनजाने रास्ते पर विहार कर देना, लोगों को बड़ा असुविधाजनक लगा; पर धीरे-धीरे लोग समझ गए कि परीषह-विजयी वीतरागी साधु इसी तरह अचानक अतिथि-भाव से मोक्षमार्ग पर विचरण करते हुए अपने मोह का क्षय करता है। सच्चा साधु वही है।"

माँ ने अपने दोनों छोटे बेटे उन्हें सौंप दिए, दोनों बेटियों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, एक बेटा सद्गृहस्थ बना, पिता और माँ ने आचार्यश्री के मार्गदर्शन में आचार्य धर्मसागर जी के चरणों में मुनि और आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली। पिता मुनिश्री मल्लिसागर जी और माँ आर्यिका समयमती जी के रूप में समाधिस्थ हो गए।

जीवन-परिचय यहाँ समाप्त होता है। अब आगे आते हैं उनके अछूते दुर्लभ जीवन-प्रसंग। ये प्रसंग प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं, जीवन में उन्मेष के लिए अद्भुत मार्गदर्शक हैं। उनमें से प्रथम और अंतिम का उल्लेख करके शेष को पाठकों के पढ़ने के लिए छोड़ दूँगा।

पहला प्रसंग है सन् 1975 का। आचार्य महाराज फिरोजाबाद में थे। प्रतिदिन उनके प्रवचन होते थे, जिसकी सूचना नागरिकों को दे दी जाती थी। एक दिन सूचना-पटल पर लिखा गया कि कल का प्रवचन 'अतिथि' से सम्बन्धित विषय पर होगा। प्रवचन के समय लोग सभा-भवन में एकत्र हुए तो पता चला कि महाराजश्री का तो गमन हो गया।

लोग उनके पीछे अपने वाहनों से दौड़े। दो-तीन मील पर उनसे मिले और कहा - "महाराज, आज तो आपका 'अतिथि' विषय पर प्रवचन होना था।" महाराज हँसकर बोले - "भैया, वही तो कर रहा हूँ। अतिथि का अर्थ ही यह होता है कि उसके आने व जाने की तिथि निश्चित नहीं होती।"

अंतिम प्रसंग है 10 जनवरी 1992 का। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक, पाँच-छह साधकों सहित सतना में चातुर्मास समाप्त करके लौट रहे थे। उन्हें लगभग डेढ़ वर्ष के बाद आचार्यश्री के दर्शन होने थे। जबलपुर के निकट पहुँचने पर मालूम हुआ कि महाराजश्री शीघ्र ही वहाँ पहुँच रहे हैं। वे हर्ष-विभोर होकर उन्हें लेने आगे चल पड़े। कुछ दूर चलने पर महाराजश्री उन्हें मिल गए। दर्शन-वंदन के पश्चात् उन्होंने सतना के चातुर्मास की सफलता की चर्चा की। कहा कि जो भी बन पड़ा, आपकी कृपा से किया। सुनकर महाराज हँसने लगे।

बोले - "कृपा तो हम सब पर आचार्य ज्ञानसागर महाराज की है। भगवान महावीर के धर्म-तीर्थ की सेवा करना और अपने हित के साथ-साथ सभी के हित की भावना रखना हमारा कर्तव्य है।" इन शब्दों में गुरु-भक्ति और उनके प्रति समर्पण जैसे साकार हो उठे थे।

तभी उन्हें मालूम हुआ कि इस पुस्तक के लेखक की उसी दिन बारह वर्ष पहले क्षुल्लक-दीक्षा हुई थी। अत्यन्त प्रफुल्लित होकर महाराजश्री ने उनका हाथ पकड़ कर कहा - "चलो, अभी तो इस मोक्षमार्ग पर अपने को बहुत आगे बढ़ना है।"

इन अमृत-वचनों से लेखक की आँखें आँसुओं से भर गईं।

जीवन-परिचय और प्रसंगों में ऐसी घटनाओं का अंत नहीं है। एक के बाद एक इन मणि-मुक्ताओं से पाठक का मन अभिभूत हो जाता है।

जी होता है, सारी पुस्तक को इस भूमिका में उद्धृत कर दूँ, पर उससे भूमिका-लेखक के दायित्व का अतिक्रमण होगा। उसका दायित्व तो पाठकों को पुस्तक की विषय-वस्तु की मात्र जानकारी देना है।

इस पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते मुझे याद आ गए वे मंगल-दिवस, जो अमरकंटक में आचार्यश्री के सान्निध्य में मैंने व्यतीत किए थे। उन्हें आहार देने का सौभाग्य मिला था। वह मेरे जीवन का दुर्लभ अवसर था। रात्रि के कुछ घंटों को छोड़कर शेष समय उनके साथ विभिन्न विषयों की चर्चा करते बीता। उनके मुँह से जो शब्द निकले, वे शब्द नहीं, मन्त्र थे। उनका मुख-मण्डल हर घड़ी, उनके आन्तरिक आनन्द का परिचय देता था। वैसी सरलता, निश्छलता और सात्विकता मैंने बहुत कम चेहरों पर देखी है। बात-बात पर उनका आंतरिक उल्लास हँसी में फूट उठता था। उनका वह उल्लास संक्रामक था। जो भी उनके सम्पर्क में आता था, उसका मन जीत लेने की उसमें विलक्षण क्षमता थी। ये पंक्तियाँ लिखते समय आचार्यश्री की हँसती-विहँसती आकृति मेरे सामने खड़ी है।

मैं इस पुस्तक के लेखक को इस अनूठी कृति के लिए अपने पूरे हृदय से साधुवाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि यह अमर-कृति जन-जन के द्वारा पढ़ी जाए और आचार्यश्री का सम्पूर्ण जीवन उनके लिए प्रेरक सिद्ध हो।

- यशपाल जैन

7/8, दरियागंज
नई दिल्ली
20 जून, 1997

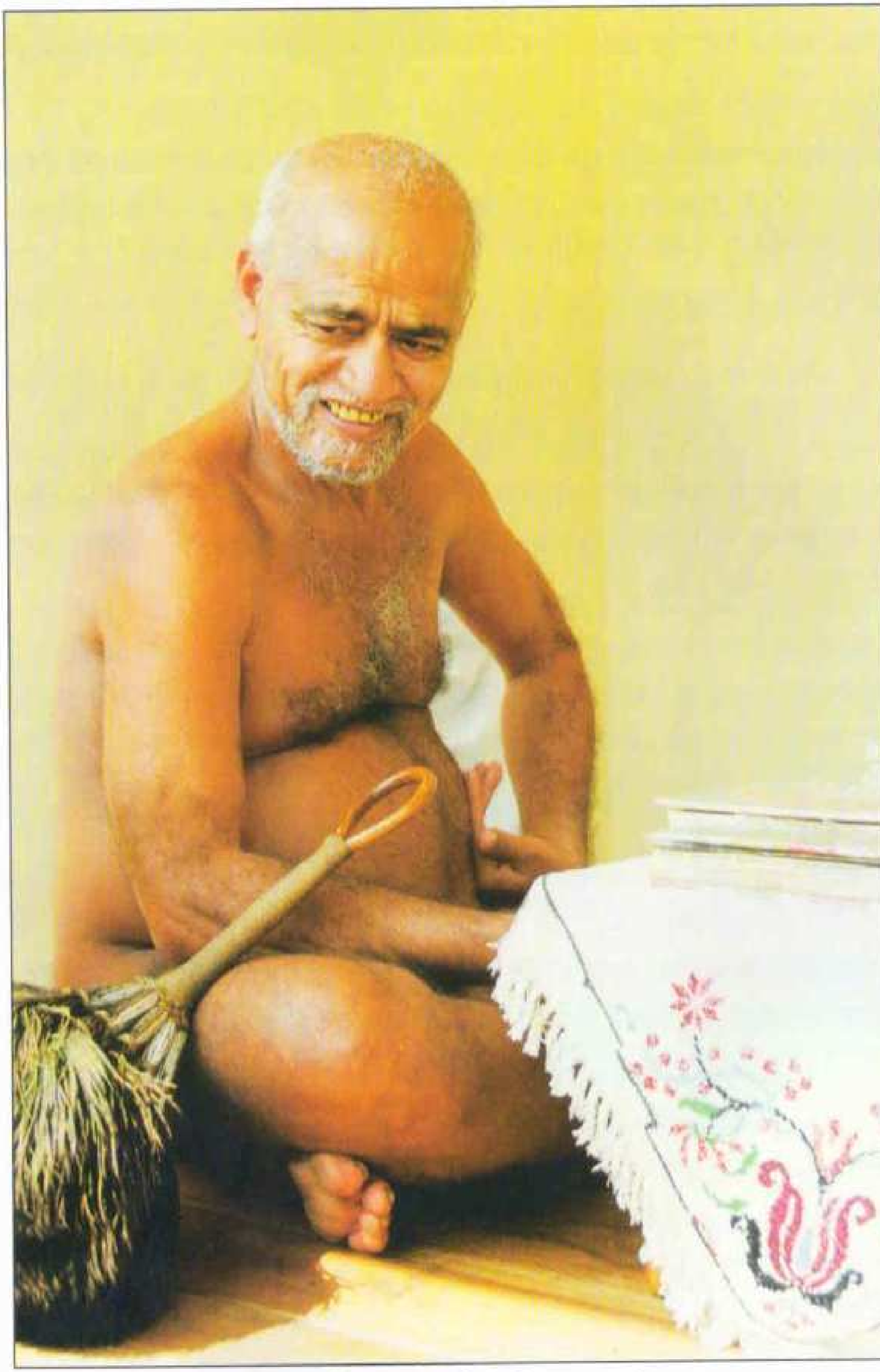

आत्मान्वेषी : आचार्य श्री विद्यासागर जी

☐ जीवन–परिचय

समर्पण

जो ज्योति–सा
मेरे ह्रदय में
रोशनी भरता रहा
वह देवता

जो साँस बन
इस देह में
आता रहा
जाता रहा
वह देवता

जो दूर रहकर भी
सदा से
साथ मेरे है
यही अहसास
देता रहा
वह देवता

मैं जागता हूँ
या नहीं
यह देखने
द्वार पर मेरे
दस्तक सदा
देता रहा
वह देवता

जो गति
मेरे नियति था
ठीक मुझ–सा ही
मुझे करता रहा
वह देवता।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज खूब सधे हुए साधक थे। उन्होंने अपना सारा जीवन जैनागम के गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन में ही बिताया। पंडित भूरामल जी के नाम से आचार्य संघों में वे साधुजनों को स्वाध्याय भी कराते रहे।

मैंने सुना है कि उनके पिता उन्हें बचपन में ही छोड़कर चल बसे थे। अध्ययन और आजीविका का साधन न होने से वे अपने बड़े भाई के साथ 'गया' चले गये और वहाँ एक जैन व्यवसायी के यहाँ काम करने लगे, पर मन तो ज्ञान के लिए प्यासा था। सो एक दिन वहाँ से चलकर स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस पहुँचे और वहीं अध्ययन करने लगे। दिन-रात ग्रन्थों का अध्ययन करते-करते स्वल्पकाल में ही न्याय, व्याकरण और साहित्य के विद्वान बन गये।

तब कौन जानता था कि बनारस की सड़कों पर अपनी पढ़ाई के लिए हर शाम घंटे भर गमछे बेचकर चार पैसे कमाने वाला यह युवक संस्कृत-साहित्य का ही नहीं, वरन् समूचे जैनागम का मर्मज्ञ हो जायेगा। सचमुच, जिसका श्रम हर रात दीये में स्नेह बनकर जला हो, उसे ज्ञान और वैराग्य का प्रकाश-स्तम्भ बनने से कोई रोक भी तो नहीं सकता। प्रकाण्ड विद्वान होकर भी उन्होंने आचार्य शिवसागर महाराज जी के श्री-चरणों में मुनि-दीक्षा अंगीकार कर ली और एक दिन तुम्हें अपना शिष्य बनाकर कृतार्थ कर दिया। उनकी अनेकों कृतियों के बीच तुम पहली जीवन्त कृति थे।

मैंने उनकी साधुता देखी है। वे उन अर्थों में साधु थे, जिन अर्थों में कोई सचमुच साधु होता है। भेद-विज्ञानी होना साधुता की कसौटी है। वे भेद-विज्ञानी थे। भेद-विज्ञानी का अर्थ शरीर और आत्मा के भेद का जानकार होना मात्र नहीं है। सच्चा भेद-विज्ञानी वह है जो समस्त परिग्रह से मुक्त होकर आत्मानुभूति में तत्पर है। तत्त्वज्ञ तो कोई भी हो सकता है, पर वे तत्त्वदृष्टा थे। वे शरीर और आत्मा के पृथक्करण की साधना में तत्पर निस्पृह साधक और सच्चे भेद-विज्ञानी थे।

अपनी आत्मा को साधने में निरन्तर लगे रहने वाले वे अनोखे साधु थे। उन्होंने अपने जीवन को भीतर-बाहर एक-सा सहज, सरल और निर्विकार बना लिया था इसलिये वे यथाजात नग्न दिगम्बर थे। मैं बड़ा हूँ या कोई छोटा है, इस तरह की ग्रंथि उनके मन में नहीं थी इसलिये उच्चता और हीनता की ग्रंथियों से परे वे निर्ग्रन्थ थे।

ग्रन्थ के हर गूढ़ रहस्य को, हर गुत्थी को सहज ही सुलझा देना और अपने जीवन को जीवन्त-ग्रन्थ बना लेना, यह उनकी निर्ग्रन्थता की शान थी। अपने जीवन में उन्होंने जो भी लिखा वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की रोशनाई से लिखा, तब जो भी उनके समीप आया वह निर्ग्रन्थ होने के लिए आतुर हो उठा।

मैंने देखा है कि संसार के मार्ग पर, जहाँ लोग निरन्तर भौतिक सुख-सामग्री पाने दौड़ रहे हैं, वे अविचल खड़े हैं। और मोक्षमार्ग पर, जहाँ कि लोगों के पैर आगे बढ़ नहीं पाते, वे निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। अतीत की स्मृति और अनागत की आकांक्षा जिन्हें पल भर भी भ्रमित नहीं कर पाती, ऐसे अपने आत्म-स्वरूप में निरन्तर सजग और सावधान गुरु को पाकर तुम्हारा जीवन धन्य हो गया। ❑

साँझ के समय एक दिन जब तुम गुरु महाराज की सेवा में लगे थे, तभी अध्ययन की चर्चा चली। महाराज बोले – ''पढ़ लेना, तुम भी पढ़ लेना। अभी तक पढ़ने वाले तुम्हारे जैसे कई ब्रह्मचारी मेरे पास और भी आये हैं, लेकिन सब पढ़कर चले गए। रुका कोई भी नहीं।'' तुम्हें लगा कि कहीं महाराज जी औरों की तरह थोड़ा बहुत यूँ ही पढ़ाकर मना न कर दें।

तुम गहरे सोच में डूब गए। बड़ी मेहनत और लगन से तुम अध्ययन करने महाराज के चरणों में पहुँचे थे। सो झट से अपना माथा महाराज जी के चरणों में रख दिया और गद्‌गद कंठ से टूटी-फूटी हिन्दी में कहा कि महाराज जी, आपके चरणों में मेरे लिए जगह जगह बनी रहे। मैं आज से जीवन-पर्यन्त वाहन-यान आदि सभी आवागमन के साधनों का त्याग करता हूँ। जितना चलूँगा अब आपकी आज्ञा से आपके पीछे-पीछे ही चलूँगा। अपनी कृपा बनाए रखिए।

महाराज जी की आँखें विस्मय और हर्ष से चमक उठीं। एक वृद्धा माँ की तरह स्नेह से भरकर उन्होंने तुम्हारे सिर पर हाथ रखा, खूब आशीर्वाद दिया और बोले – ''विद्याधर बहुत देर से आए।'' उनके वरदहस्त के स्पर्श से अभिभूत होकर और प्रेमसनी वाणी सुनकर तुम्हारी आँखें भर आईं। हृदय का द्वार खोलकर मानो ज्ञान-सूर्य तुम्हारे भीतर प्रविष्ट हो गया।

महाराज के चरणों में बैठकर तुमने विधिवत अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। सतत चिन्तन-मनन और भक्ति-भाव में खोया तुम्हारा मन बाहर की दुनिया को भूलता चला गया। गहन समर्पण ने तुम्हारे भीतर अदृश्य जगत को देखने की दृष्टि पैदा कर दी। दृश्य जगत् के पीछे छिपे अदृश्य-दृष्टा को देखना ही अब तुम्हारा ध्येय हो गया।

इस बीच जो भी आया उसने तुम्हें निरन्तर ज्ञान की आराधना में लीन पाया। खूब सवेरे उठकर अपना पिछला पाठ याद करना, नहा-धोकर भगवान के अभिषेक-पूजन में लग जाना और वहाँ से आकर अत्यन्त विनम्र भाव से नया पाठ पढ़ने के लिए महाराज के चरणों में बैठ जाना, यह रोज सुबह का क्रम था।

महाराज के आहार हो जाने के बाद जो भी श्रावक तुम्हें आहार के लिये लिवाने आता था, तुम चुपचाप सिर झुकाए उसके साथ चले जाते थे। आहार के विषय में ज्यादा

मीन-मेख करना, बचपन से ही तुम्हारे स्वभाव में नहीं था। आहार के प्रति तुम्हारी यह निस्पृहता ज्यादा दिन छिपी न रह सकी। महाराज को भी मालूम पड़ गया, सो एक दिन धीरे से पूछ लिया कि, विद्याधर! साधना ठीक चल रही है ? तुम सहज भाव से ''हाँ'' कहकर चुप हो गए। महाराज के लिए इतना ही पर्याप्त था। वे समझ गये कि अब तुमने आत्म-विकास को अपना साध्य बना लिया है और साध्य की प्राप्ति में देह को सहायक साधक मानकर साधना कर रहे हो। ज्ञान और साधना की यही सही शुरुआत है।

आहार के उपरान्त आचार्य महाराज, मन को थकाने वाले काम करने का निषेध करते थे। कहते थे कि विद्याधर, आहार से निवृत्त होकर मन को सजग और शान्त रखना चाहिए, ताकि सामायिक उत्साहपूर्वक हो सके। सामायिक साधना की कसौटी है। सामायिक में एकाग्रता जितनी सधेगी, साधना का आनन्द भी उतना ही अधिक होगा। साधना का यही आनन्द, ज्ञान में निखार लाएगा। ज्ञान की आराधना, सामायिक की साधना से बिना अधूरी है।

इस तरह गुरु-कृपा से तुमने अक्षर-अक्षर करके हिन्दी भाषा की पूरी वर्णमाला सीखी। संस्कृत सीखी। प्राकृत की गाथाएँ दुहरायीं और निरन्तर सीखते ही चले गये। जब तुम बोलते-बोलते किसी कठिन शब्द के आ जाने पर चुप रह जाते थे तब महाराज कहते थे कि बोलो, विद्याधर बोलो। चुप क्यों हो गए? तुम महाराज के द्वारा कहे गये एक-एक शब्द का पुनः उच्चारण करने लगते थे।

तुमने जो भी सीखा, जितना भी सीखा पूरी लगन, निष्ठा और उत्साह से सीखा। आत्म-हित और लोक-कल्याण की भावना से सीखा। तभी तो आज तुम संस्कृत के मर्मज्ञ और प्राकृत के ज्ञाता हो। हिन्दी भी खूब अच्छी जानते हो।

कन्नड़ भाषा तो मातृभाषा के रूप में तुम्हें विरासत में मिली और अपने अथक प्रयत्न से अन्य कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके आज तुम बहुभाषाविद् हो। मुझे लगता है कि इससे भी कहीं अधिक तुम आत्मविद् हो। कहा जाता है कि जो स्वरूप का निर्माण करती है वह कला है। एक कला वह है जो पाषाण में छिपे भगवान को प्रकट कर देती है। एक कला वह है जो शब्द में छिपे छन्द को मुक्त कर देती है। वीणा में सोए संगीत को जगाने वाली भी एक कला है, पर जगत् में सर्वश्रेष्ठ कला तो वह है जो आत्मा में सोये ब्रह्म को जगाती है। तुम ऐसे ही कलाविद् हो गए हो।

मैंने सुना है जब वर्षाऋतु में लोगों ने अपनी-अपनी छतरियाँ खोल लीं और भीगने से बचने की कोशिश की, तब तुम अपने गुरु के वचनामृत से बाहर-भीतर सब ओर से भीगते चले गए। शीत ऋतु का सन्देशा सुनने से पहले ही लोगों ने अपने कान ढक लिए और मोटे लिहाफ में दुबक कर सो गए, लेकिन तुम आत्मसन्देश सुनने सारे आवरण हटाकर अपने गुरु के अत्यन्त समीप आते गए।

ग्रीष्म ऋतु की तप्त उर्मियों से व्याकुल होकर लोगों ने रास्ते पर चलने से इन्कार कर दिया, लेकिन तुम तपस्तेज में स्वयं को तपाकर अपने गुरु के बताए मोक्षमार्ग पर चलने के लिये सहर्ष तैयार हो गए। उनकी चरण-शरण में बैठकर दिन-रात अन्तर्यात्रा में लग गए।

ऋतुचक्र पूरा होते न होते तुमने अपने जीवन-चक्र को अद्‌भुत गति दे दी। शरीर की परिधि पर घूमती चेतना की धारा को आत्म-केन्द्र की ओर प्रवहमान कर दिया। अभीक्ष्ण ज्ञान और ध्यान तुम्हारे नित्य-नियम बन गए। महाराज की दृष्टि तुम्हारे भीतर होने वाले इन सारे परिवर्तनों की साक्षी रही। वे चुपचाप सब देखते रहे। एक दिन मुस्कराकर उन्होंने कहा कि "विद्याधर, तैयारी पूरी हो गई। तुम मोक्षमार्ग पर चलने में सक्षम हो।"

... और हवाओं की तरह यह खबर सब ओर फैल गई कि एक दिगम्बर श्रमण शीघ्र ही अपनी पगचाप से इस धरती को धन्य करेगा। ❑

झोली मंगल-कामनाओं से भर गयी

दीक्षा होने से दो दिन पहले, वहाँ के लोगों ने तुम्हें खूब सजाया और सारे शहर में घर-घर ले जाकर तुम्हारी आरती उतारी। तुम्हारी झोली मंगल-कामनाओं से भर गयी थी। उस दिन लोगों के बीच हाथी पर बैठे भीड़ से घिरे होकर भी लगता था मानो तुम एकदम अकेले हो। तुम्हारी निश्छल और सहज वीतराग चितवन ने सबका मन मोह लिया था।

दीक्षा के दिन अपार जनसमूह के बीच, तुमने अपने कोमल हाथों से देखते-देखते केशलुंचन कर लिया और हवा में लहराता एक उत्तरीय कंधे पर डाले, खड़े होकर अपनी ओजस्वी वाणी से सारे जनसमूह को भाव-विभोर और चकित कर दिया।

मुनि दीक्षा से पहले जो एक प्रश्न लोगों के मन में सहज ही उठा था कि इतने सुकुमार बाईस वर्षीय युवा को सीधे मुनि दीक्षा देना कहाँ तक उचित है, इसका समाधान तुम्हारी सम्यक्-श्रद्धा, प्रखर-प्रज्ञा और अपार चारित्रिक दृढ़ता को देखकर आपोआप मिल गया। उन क्षणों में सभी ने ऐसा अनुभव किया कि तुम जो भी करोगे वह इस युग के लिये अद्‌भुत और परम उपकारी होगा।

महाराज के चरणों में तुमने विनम्र निवेदन किया - "मैं सकल चराचर जीवों को क्षमा करता हूँ, सभी मुझे क्षमा करें। मैं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के द्वारा प्ररूपित अनादिकालीन श्रमण-धर्म की शरण को स्वीकार करता हूँ। मैं समस्त पूर्वाचार्यों की शरण को स्वीकार करता हूँ। मैं चारित्र-चक्रवर्ती दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसागर जी, आचार्य श्री वीरसागर जी, आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज की परम्परा में अपने साक्षात् गुरु श्री ज्ञानसागर जी महाराज की चरण-शरण को स्वीकार करता हूँ। पूज्य महाराज मुझे जैनेश्वरी-दीक्षा देकर अनुगृहीत करें।"

दीक्षा विधि प्ररम्भ हुई। तुमने एक-एक करके सभी महान प्रतिज्ञाएँ दुहराईं, कि मैं पाँच पापों को त्याग कर पाँच महाव्रतों को स्वीकार करता हूँ। मैं पाँच असमीचीन प्रवृत्तियों को छोड़कर पाँच समितियों को ग्रहण करता हूँ। मैं इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति छोड़कर पाँच इन्द्रिय-निरोधों को अंगीकार करता हूँ। मैं आगमोक्त षट्-आवश्यक क्रियाओं सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग को स्वीकार करता हूँ। मैं समस्त प्रकार के स्नानों का परित्याग कर अस्नान व्रत को अंगीकार करता

हूँ। मैं समस्त वस्त्राभूषणों का त्याग कर यथाजात रूप, अचेलक व्रत को स्वीकार करता हूँ। मैं रागयुक्त शय्यादि का परित्याग कर भूमि-शयन व्रत को अंगीकार करता हूँ। मैं दन्त-परिष्कार से मुक्त होकर आत्म परिष्कार के लिए अदन्त-धावन व्रत को स्वीकार करता हूँ। मैं संसार में प्रचलित सभी भोजन प्रणालियों से विमुख होकर एक अतिथि की तरह अपने पाणिपात्र में खड़े होकर भोजन ग्रहण करने रूप स्थिति-भोजन व्रत को अंगीकार करता हूँ। मैं रात्रि-भोजन का त्यागकर दिन में मात्र एक बार प्रासुक, निर्दोष भोजन ग्रहण करने रूप एक-भक्त-व्रत को स्वीकार करता हूँ। मैं अब स्वाश्रित होने के लिए अपने हाथों केशलुंचन के लिए संकल्पित होता हुआ लोचव्रत रूप मूलगुण को अंगीकार करता हूँ।''

दीक्षा के उन पावन क्षणों में हजारों आँखें तुम्हारी ओर अपलक देख रही थीं। सब प्रतीक्षारत थे। इतने में ही अचानक हवाएँ थम गईं और बादलों का एक नन्हा-सा टुकड़ा उस तपती दुपहरी में जाने कहाँ से आकर वहाँ बरस गया। सब ओर जय-जयकार होने लगी। मानो उत्सव की खुशियों में गलकर श्रद्धा सजल हो गई। तुम्हारे जीवन में वीतरागता के बादल उमड़े और तुम आत्मानुभूति में भीगते चले गए।

क्षणभर में तुम्हारी देह अनावरित हो गई। हजारों आँखों में प्रतिबिम्बित हुआ अनादिकालीन श्रमण-परम्परा की प्रभावना करने वाला एक युवा श्रमण ''मुनि विद्यासागर''।

अपने इस नव दीक्षित शिष्य को गुरु ने उद्‌बोधन दिया - ''अब तुम्हें आत्म-कल्याण के लिए निरन्तर आगे बढ़ते रहना है। जो जीवन बीत चुका उसके बारे में क्षण मात्र भी विचार नहीं करना है। मुनि का लक्ष्य है ऊँचाइयाँ छूने का; मोक्ष प्राप्त करने का। गृहस्थ ने अगर अपने से अधिक भौतिक सुख-सुविधासम्पन्न व्यक्तियों को देखकर ईर्ष्या की और नीचे वालों से घृणा की, तो वह आत्म-कल्याण नहीं कर सकेगा और यदि साधु ने नीचे की ओर देखकर अपने को ऊँचा मानकर सन्तोष कर लिया या ऊँचाइयों का ध्यान भुला दिया तो उसका भी कल्याण नहीं।''

उपदेश प्रेरणादायी था। तुमने ध्यान से सुना और मन ही मन संकल्प कर लिया कि ''मैं साधु के योग्य निर्दोष आचरण करूँगा और ऊँचाइयों को छूने का प्रयास करूँगा।''

उस दिन अपने गुरु के साथ जब तुमने मोक्षमार्ग पर पहला कदम बढ़ाया तब लगा मानो अचला कहलाने वाली धरा ने स्वयं चलकर तुम्हारे पग थाम लिए और कहा - ''हे श्रमण ! यह रहे तुम्हारी विजय-यात्रा के प्रथम चरण; जाओ, और आत्म-आकाश में अनन्त ऊँचाइयों पर अबाध विचरण करो।'' ❑

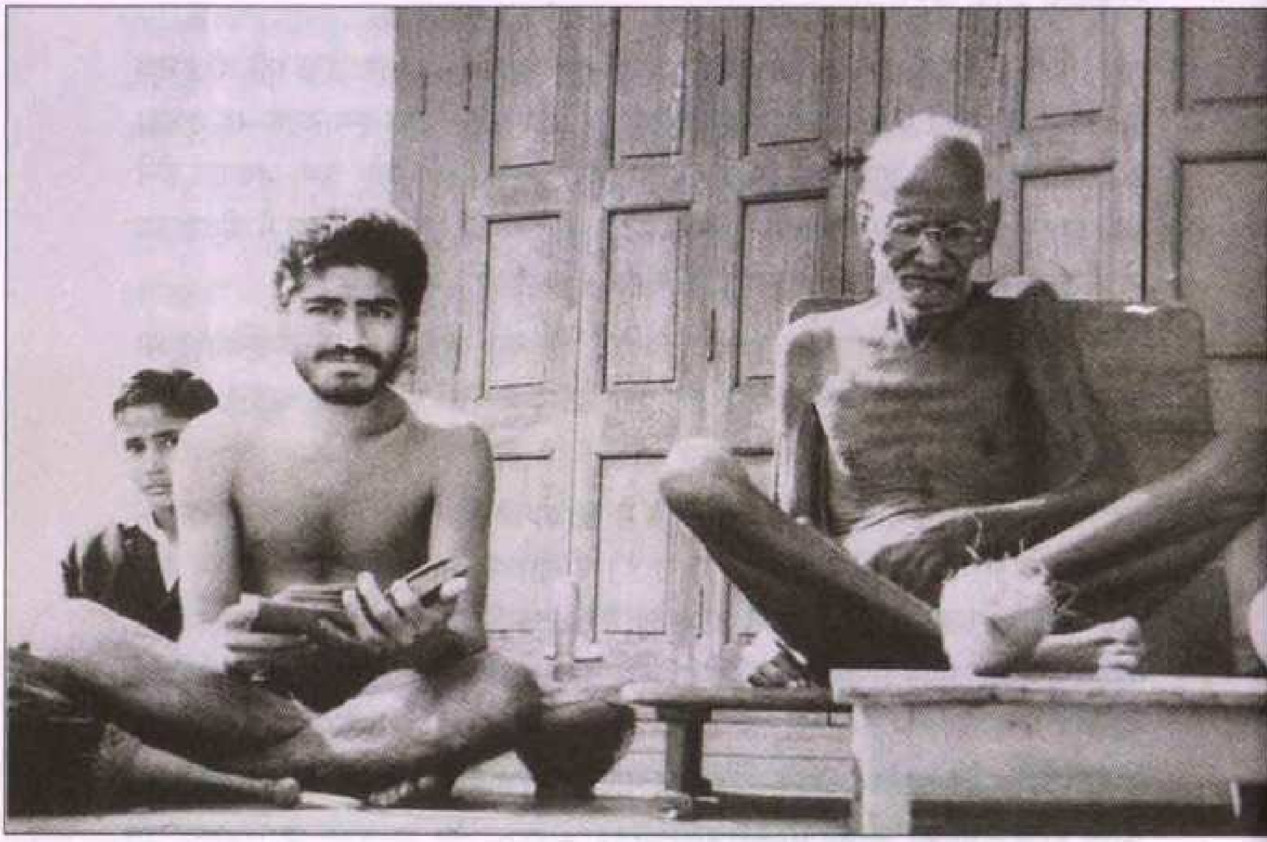

अपने गुरु के चरणों में

तुम चले गये। मुझसे कहकर जाने की जरूरत भी तुमने नहीं समझी। तुम्हारी मुनि-दीक्षा का समाचार सुनकर मोहवश, क्षण भर को मेरा मन गहरी पीड़ा और विषाद से भर गया। तुम हमेशा-हमेशा के लिए घर छोड़कर चले गए। मैं तुम्हारी माँ होकर भी जाते वक्त तुम्हें विदा नहीं कर पायी। पिछले कई दिनों से लगता तो था कि तुम किसी भी दिन चले जाओगे, पर जाते समय मेरे सामने भी नहीं आओगे, मुझसे बिना बोले चुपचाप चले जाओगे - यह मैं नहीं सोच पाई। सोचना भी नहीं चाहा। जिसे नौ माह तक अपनी देह में छिपाए रही, वही एक दिन मुझसे छिपकर चला जाएगा, ऐसा मैं तुम्हारी माँ होकर सोच भी कैसे सकती थी?

तुमने ऐसा क्यों किया विद्या ? जाते समय तुम्हारे मन में मेरा जरा भी ख्याल नहीं आया। क्या अपनी इस माँ के लिए तुम्हारा हृदय नहीं रोया?

तुम्हें शायद ही याद हो, जब अपने घर के आँगन में एक नन्ही-सी चिड़िया आकर गिर गई थी। तुम अपना खेल अधूरा छोड़कर भागे-भागे उसे देखने चले आए थे। तुमने उसे पानी पिलाना चाहा, पर उसने नहीं पीया। तुमने दाना डाला, पर उसने नहीं चुगा। थोड़ी ही देर में उसने प्राण त्याग दिए। तुम्हारा मन भर आया। तुम रो पड़े। दिनभर अनमने से सारे घर में यहाँ से वहाँ घूमते रहे। न तुमने ठीक से खाया और न ही किसी से बोले।

बचपन से ही मैं तुम्हें अपने-पराए सभी की पीड़ा से विगलित और अनुकंपित होते देखती आई हूँ, सो आज तुम्हें यह उलाहना दे बैठी कि मुझसे बिना पूछे चले गये और मेरी पीड़ा का जरा भी ख्याल नहीं किया। पर नहीं विद्या! मैं तुमसे कुछ नहीं कहती। मैं जानती हूँ, तुम्हारी करुणा असीम है। यह तो मेरा ही मोह है, जो मुझे रुलाता है। वास्तव में, एक तुम्हीं तो हो जो मेरी जनम-जनम की पीड़ा को जान गये हो और मुझे मोहपाश से मुक्त होने का संदेश देकर, अकेली छोड़कर चले गए हो। मैं समझ गई हूँ कि यहाँ सब अकेले हैं। अकेले ही आते हैं और अकेले ही चले जाते हैं। धर्म के सिवा कोई तो नहीं है ऐसा, जो हमारा सच्चा साथी हो सके।

तुम्हें एक सच्चे साथी की खोज बचपन से ही रही। तुम कई बार घर के द्वार पर खड़े होकर अपने में खोए-खोए से बाहर फैले अपार विस्तार में शायद उसे ही खोजते

रहे। उन दिनों न प्रकृति का सौन्दर्य तुम्हें बाँध पाया, न खेल-खिलौनों की दुनिया तुम्हें लुभा पाई और न ही सम्बन्धों का मोह तुम्हारे मोक्षमार्ग पर बढ़ते कदमों को रोक पाया। तुमने तो सत्य का सौन्दर्य देखना चाहा था। तुमने तो ऐसे खेल-खिलौनों की दुनिया चाही जिसमें टूटने और टूटकर बिखरने की पीड़ा नहीं होती। जीवन का वह सम्बन्ध तुमने चाहा जो सदा-सदा के लिए निर्बन्ध कर सके।

मेरे मातृत्व की छाया से दूर होकर भी तुम गुरु चरणों की शीतल छाया पा गए हो। जिनवाणी माँ के मातृत्व का अब तुम्हें खूब सहारा है और श्री भगवान की वीतराग चितवन से झरती असीम करुणा तुम्हारे मन-प्राणों में निरन्तर बरसती है। तुम स्वयं तीर्थ हो गये हो।

'मातेव बालस्य हितानुशास्ता' - माँ की तरह बालक का हित चाहने वाले हे शास्ता ! तुम्हारे चरणों में तुम्हारी माता का प्रणाम। ❑

बहुत दूर चली आई हूँ अपने अतीत में। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि तुम मेरे यहाँ जन्म लोगे, मेरे आँगन में खेलोगे और एक दिन बड़े होकर, इतने बड़े हो जाओगे कि इस छोटे से आँगन में समा नहीं पाओगे। मेरे घर की दीवारों को पार कर सबके अपने होने के लिए सबके हृदय में अपने लिए घर बनाओगे। विद्या, मैं तो इसे अपने पूर्व जन्म की तपस्या का फल मानती हूँ, जो तुम्हें जन्म दे सकी। अपने छोटे से आँगन में तुम्हें बड़े होते देख सकी; वरना तुम तो अपनी बन्द मुट्ठियों में राजवैभव और कोमल पगतलियों में दुनिया का राजपाट ठुकराने की सामर्थ्य लेकर आए थे। मेरा आँगन तुम्हारे लिए बहुत छोटा था, सचमुच बहुत छोटा।

उस दिन शरद पूर्णिमा थी, जब तुमने मेरे घर जन्म लिया। लगता था चन्द्रमा की चाँदनी तुम्हारी देह में समा गयी है। हवाओं में झूलते तुम्हारे दोनों हाथ मानो आकाश को अपने में समेट लेना चाहते थे। मुझे लगा कि सचमुच आकाश मेरे आँचल में सिमट आया है। तुम्हें पाकर एकबार फिर अपने माँ होने का गौरव मेरे अंग-अंग को पुलकित कर गया।

मन में आया कि जोर से कहूँ - मेरे एक और बेटा हुआ। मुझ महावीर की माँ को एक बेटा और मिला, पर न जाने क्या सोचकर मैं चुप रह गई। मुझे नहीं कहना किसी से, जिसे कहना हो वह कहे। मैं तो यहीं हूँ। अब मैं हूँ और मेरा बेटा है। मुझे अब कहीं नहीं जाना। उन दिनों ही नहीं, आज भी, तुम्हें पाकर तुमसे दूर जाने का मन किसी का नहीं होता। मैं तुमसे दूर नहीं होना चाहती थी, तो चुप रही आई, पर उससे क्या? मैं भले ही न बताऊँ, बात तो हवाओं में फैल ही गई कि मुझ महावीर की माँ श्रीमती और पिता मल्लप्पा अष्टगे के घर एक सलोने और खूब सुन्दर बेटे ने जन्म लिया है।

जन्म से ही तुम्हारी देह का उजलापन और चेहरे पर खेलती मुस्कान अनजाने ही सभी को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। जो भी देखता, तुम्हें गोद में उठाने के लिए बेचैन हो उठता था। सुनती हूँ आज भी तुम ऐसे ही हो। अब तो वीतराग सौन्दर्य ने जन्म के उस आकर्षण को दोगुना कर दिया है। जो भी आता है वह तुम्हें नितान्त अपना मान बैठता है और सारा जगत् मानो उसे पराया हो जाता है।

तुम्हारे जन्म की खुशियाँ कई रोज तक सावन की बूँदों की तरह मेरे आँगन में बरसती रहीं। असीम स्नेह से भरकर सभी ने तुम्हें आशीष दिया। मेरा घर तुम्हें पाकर भर गया। तब मैं भी नहीं जानती थी कि जिसे आज अपना बेटा मान रही हूँ, वह एक दिन सबका अपना हो जाएगा और स्वयं मेरे लिए इतना पराया हो जाएगा कि मैं माँ होकर भी उसे अपना बेटा कहकर पुकार नहीं पाऊँगी।

बचपन में अपनी गोद में लिटाए जब तुम्हें मैं विद्याधर कहकर पुकारती थी तो लगता था कि कहीं सचमुच तुम बड़े होकर विद्याधरों की भाँति विद्या के बल पर आकाश में उड़कर मुझसे दूर तो नहीं चले जाओगे? तुम मुस्कराकर मेरी ओर देखने लगते थे, जैसे कह रहे हो कि माँ ! हम यहीं तो हैं, तुम्हारी गोद में, तुम्हीं हमें गोद में लिए हुए जाने कहाँ खो जाती हो।

''तुम्हें छोड़कर मैं कहीं जा भी कैसे पाऊँगा माँ ! यहाँ ऐसी कोई जगह है ही कहाँ, जहाँ तुम न हो या जहाँ मैं न होऊँ। यहाँ तो सब ओर हम ही हम हैं माँ ! अपने और पराए के खेल में हम सब जानबूझकर उलझते हैं और खेल कभी खत्म नहीं होता। देखो माँ ! हम खेलेंगे जरूर। बड़े होकर इस बार हम कोई अनोखा ही खेल खेलेंगे, जिसमें हार-जीत नहीं होती। जिसमें कोई अपना और कोई पराया नहीं होता। तुम रोकना मत माँ ! पर मैं जानता हूँ कि तुम रोकोगी और हम नहीं रुकेंगे। हम अपनी माँ से, घर से बाहर खेलने जाने की जिद करेंगे और कहेंगे कि, लो, हम ये चले। ये गये। हम जाते हैं माँ ! तुम पकड़ने आओगी, पर हम पकड़ में थोड़े ही आएँगे। हम अपनी माँ के राजा बेटे जो हैं।''

बचपन की तुम्हारी कही-अनकही बात आज सच साबित हो गई। तुम अपनी जिन्दगी के इस अनोखे खेल में अकेले ही चले गए। तुम अपने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतने निःशस्त्र ही निकल गए। आज इसे कोई तुम्हारी दायित्व-विमुखता या पलायन नहीं कह सकता। अपनी ही खोज में निकले आत्मान्वेषी को पलायनवादी कहना या अपनी ही वासनाओं से जूझने अकेले, निर्वस्त्र और निःशस्त्र निकले आत्मजयी योद्धा को अकर्मण्य कहना सम्भव ही नहीं है।

हम अपने मन का एक कोना बसाकर शेष जगत के प्रति दायित्व से विमुख होकर भी स्वयं को दायित्ववान मान लेते हैं, यह हमारी भूल है। वास्तव में अपने और समूचे लोक के कल्याण का दायित्व ही मनुष्य का सबसे बड़ा दायित्व है।

जाओ विद्या, जाओ। मैं तुम्हें नहीं रोकती। तुम अपने इस सर्वश्रेष्ठ दायित्व को पूरा करो। तुम आत्म-विजेता बनकर अपने निज-घर पहुँचो। तुम्हारी माँ वहीं मुक्ति द्वार पर, तुम्हारे स्वागत के लिए आरती सजाए प्रतीक्षा करेगी। ❑

मेरे देखते-देखते तुम बड़े हो गए। इतने बड़े कि अपने पैरों पर खड़े होने लगे। बिना सहारे चलने लगे। मैं जितना तुम्हें पाने की कोशिश करती, तुम उतनी ही दूर निकल जाते थे। ठीक ऐसे ही जैसे आज लोग तुम्हें पाने यहाँ से वहाँ भागते फिरते हैं और तुम किसी के हाथ नहीं आते। ग्राम, नगर, तीर्थ सब में होकर भी सबसे असम्पृक्त रहे जाते हो।

जब मैं कहती कि विद्या, देखो तंग मत करो। हमें अपना काम करने दो। बहुत काम करने हैं। अभी दही मथना है। नवनीत निकालना है। घी बनाना है। तुम कैसे राजा बेटे हो ? माँ की बात मानते हो न। जाओ, थोड़ा कहीं खेल आओ। तब तुम पलक झपकते ही आँखों से ओझल हो जाते। मैं दही बिलोने लगती। जैसे ही नवनीत ऊपर आता, तुम झट से आकर बड़े दुलार से कहते - ''माँ हम नवनीत खाएँगे। दो न माँ हमको नवनीत। हम तुम्हारा कहना मानते हैं न माँ !'' तुम्हें अचानक सामने पाकर मैं ठगी-सी खड़ी रह जाती थी और तुम्हारे दोनों हाथ नवनीत से भर देती थी। तुम्हें नवनीत खाने का बहुत शौक था। आज सुनती हूँ कि तुम्हारा हृदय नवनीत की तरह हो गया है, जो दूसरे की पीड़ा का अहसास पाते ही पिघल जाता है।

उन दिनों मैं और मेरा मन तुम्हें अपने से जरा भी दूर नहीं कर पाते थे। घर के सौ कामों के बीच भी मैंने तुम्हें हमेशा अपने निकट पाया। तुम मेरी छाया की तरह मुझसे अभिन्न रहे। मैं जहाँ भी गई तुम पीछे-पीछे चले। आज देखती हूँ कि लोग छाया की तरह तुम्हारे पीछे चलने को अपना सौभाग्य मानते हैं।

मुझे याद है, जब मैं पहली बार माँ बनी और अपने पहले बेटे श्रीकान्त को सारी कोशिकों के बावजूद भी बचा नहीं पायी, तब मातृत्व का सुख पाने के लिए झेली गयी प्रसव-पीड़ा निरर्थक जान पड़ी। जीवन का हर सुख झूठा मालूम पड़ने लगा। सारे रिश्ते बेमानी लगे, पर जीवन-पथ इतना आसान थोड़े ही है। यहाँ तो क्षण भर की विरक्ति अगले ही क्षण किसी दूसरे स्नेह बन्धन में बँधकर विलुप्त हो जाती है। तुम जैसे ज्ञानी यहाँ विरले ही हैं, जो एक बार विरक्त होकर किसी सांसारिक प्रलोभन में नहीं पड़ते। अनासक्त होकर जल से भिन्न कमल की तरह संसार में जीते हैं।

बेटी सुमति को पाकर मैं धीरे-धीरे अपनी पीड़ा को भूल गई। एक बार फिर अपने बनाए छोटे से संसार में रम गई। कुछ दिन बाद तुम्हारे बड़े भाई महावीर का जन्म हुआ, पर मेरी पीड़ा का अभी अन्त नहीं हुआ था। बेटी सुमति अल्पवय में ही मुझे छोड़कर हमेशा के लिए चली गई। तब महावीर को अपनी छाती से लगाए मेरे पास सिवाय रोने के कुछ नहीं था। कहते हैं, पीड़ा में एकमात्र भगवान ही सहाई होता है, सो भगवान के चरणों में बैठकर कठोर व्रत-नियमों का पालन करने लगी। तुम्हारे पिता मेरी इस पीड़ा को देखकर मन ही मन व्यथित होते और सांत्वना देते-देते खुद भी आँखों में आँसू भरकर शून्य में ताकते रह जाते। मैं व्रत-उपवास करती तो समझाते कि "देखो अयि ! अपने इस शरीर का ध्यान रखना। हमें धर्म का खूब सहारा है, परन्तु धर्म आत्माश्रित होकर भी शरीर के बिना नहीं सधता, सो शरीर को नाव मानकर, उसे निश्छिद्र बनाए रखना, ताकि धर्म की यात्रा पूरी हो सके। दुर्निवार अपने ही द्वारा बाँधे पूर्व जन्म के कर्मों की पीड़ा तो तीर्थंकर भगवन्तों को भी सहनी पड़ी थी। फिर हमारी क्या बिसात।"

इस तरह दिन बीतते गए, मैं अपने मन को समझाती रही। सदलगा से बारह मील दूर भट्टारक विद्यासागर की समाधि-स्थली अक्किवाट थी। तुम्हारे पिता को साथ लेकर समाधि-स्थली पर माथा टेकने मैं वर्ष भर में कई बार जाती थी। बेटी की मृत्यु के बाद मैं कह आई कि मेरी सन्तान यदि जीवित रहेगी तो इस पावन वेदिका पर पाँच विधान कराऊँगी। मेरे मन की संकल्प-शक्ति कहो, चाहे पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय कहो, या समाधि-स्थली का प्रताप कहो; उसके बाद तुम्हारे जैसा पुण्यशाली पुत्र पाकर मैं कृतार्थ हो गई।

तुम्हारे जन्म के समय मैंने स्वप्न में दो ऋद्धिधारी मुनियों को आकाश मार्ग से आते देखा और अपने हाथों उन्हें आहार भी दिया। मराठी में एक कहावत है - 'मनी बसे स्वप्ने दिसे'। मन में जैसे भाव होते हैं वैसा ही स्वप्न में दिखाई देता है। तुम्हें पाकर मेरी भावना साकार हो गई। जो दीप घर के चौबारे पर मैं रोज जलाकर रख देती थी मानो उसकी रोशनी तुम में समा गई और मेरा ही नहीं, सभी का हृदय तुम्हें पाकर उज्ज्वल होने लगा।

थोड़े बड़े होकर तुम घर से तीन मील दूर स्कूल पढ़ने जाने लगे। मैंने देखा, बरसते पानी, कड़कड़ाती ठंड और तपती गर्मी में भी तुम कंधे पर बस्ता डाले पाँव-पैदल स्कूल चले जाते थे। उन दिनों अध्ययन के प्रति तुम्हारी लगन और विनय देखकर मैं आश्वस्त हो गई। आज देखती हूँ कि तुमने ज्ञान के प्रति निष्ठा और विनम्रता के बल पर एक सच्चे गुरु को पाकर अपने जीवन को ज्ञान, दर्शन व आचरण की त्रिवेणी बना लिया है जिसके समीप बैठकर प्राणीमात्र अपने पापों का प्रक्षालन करके पवित्र हो सकता है। ❑

विद्यार्थी विद्याधर

पिता ने स्कूल की पढ़ाई के बारे में तुमसे कभी कुछ नहीं पूछा। अवकाश के दिनों में पिता के कहने पर तुमने चौबीस तीर्थंकरों के नाम और भक्तामर के श्लोक अवश्य सीखे। एक बार पिता के पूछने पर ठीक से श्लोक न सुना पाने पर तुमने कान पकड़कर खड़े रहने की सजा अपने आप स्वीकार कर ली थी। आज देखती हूँ तुम अपने आचरण में कदम-कदम पर सजग और सावधान हो। आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त के द्वारा अपनी जानी-अनजानी भूलों का शोधन करके निरन्तर आत्म-निर्मलता के लिए कठिन से कठिन तप स्वयं अंगीकार कर लेते हो।

उस समय तुम लगभग नौ-दस बरस के रहे होगे जब कर्नाटक प्रान्त के सीमावर्ती गाँव शेडवाल में चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज पधारे थे। वहाँ एक ओर पास ही कृष्णा नदी है। उसी के पार्श्व में एक तालाब भी है। नाम है मुत्तिन केरे - मोतियों का साँप। दस मील की दूरी पर दानवाड़ ग्राम है, जहाँ वेदगंगा और लोकगंगा दोनों नदियाँ गले मिलती हैं। तुम्हारे पिता, हम सभी को महाराज के दर्शन कराने वहाँ ले गए थे। तुम सारे रास्ते चुपचाप गौर से सब देखते रहे। किसी खाने या खेलने की चीज देखकर उसे लेने के लिए दूसरे बच्चों की तरह तुमने जरा भी जिद नहीं की। वैसे भी मैंने देखा कि तुमने घर में कभी किसी चीज के लिए आग्रह नहीं किया। जो कहा, कर दिया। जो दिया, ले लिया। यह नहीं करूँगा, या इतना नहीं और अधिक लूँगा, ऐसा तुमने कभी नहीं कहा।

शेडवाल गाँव में पहुँचकर मालूम पड़ा कि आचार्य महाराज का केशलुंचन होना है। आसपास के बहुत से लोग इस अवसर पर महाराज के दर्शन करने आए थे। महाराज के केशलुंचन पूरे होने तक तुम मेरे पास बैठकर उन्हें एकटक देखते रहे। तब पहली बार तुम्हारी भोली-भाली आँखों में मैंने मुनि की वीतराग-छवि को प्रतिबिंबित होते देखा था। आज तुम्हें उसी वीतराग-छवि में देखकर मन भर आता है। मैं संसार में उलझी रह गई और तुम मेरे देखते ही देखते संसार की उलझनों से पार हो गए।

बचपन में एक दिन मन्दिर के समीप खेलते-खेलते तुम्हारी गेंद मन्दिर के आँगन में गिर गई। तुम दौड़कर उसे उठाने पहुँचे और देखा कि वहाँ मुनि महाबल महाराज बैठे हैं।

तुम अपना खेल भूलकर झट से महाराज को नमोस्तु करके उनके समीप बैठ गए। महाराज के पूछने पर तुमने धर्म के बारे में जो पढ़ा, सुना और सीखा था, सब सुना दिया। खूब सारा आशीष लेकर घर लौट आए और हर्ष-विभोर होकर सारी बात मुझे सुनाई। आज देखती हूँ कि मुनिजनों की सेवा और धर्म के प्रति लगाव के फलस्वरूप तुम स्वयं एक आदर्श मुनि और श्रेष्ठ आचार्य हो गए हो।

एक बार सदलगा में आचार्य देशभूषण जी महाराज पधारे थे। तुम्हारी उम्र दस-ग्यारह वर्ष की रही होगी। महाराज के द्वारा कई बच्चों का परम्परागत मूँजी-बन्धन-संस्कार होना था। इस पवित्र-संस्कार में व्रत-नियम के प्रतीक रूप गणधर सूत्र (यज्ञोपवीत) धारण कराया जाता है। विधिवत् मुंडन आदि कराके भिक्षापूर्वक भोजन करना होता है। अपने पिता की दृष्टि में अभी तुम छोटे थे, सो उन्होंने तुम्हें समझा दिया कि बेटे, थोड़े बड़े होने पर हम तुम्हारा संस्कार करा देंगे, अभी रहने दो। पर होनहार तो कुछ और ही थी। आचार्य महाराज ने तुम्हारी उत्सुकता और योग्यता देखकर तुम्हें भी मूँजी-बन्धन नामक संस्कार से संस्कारित कर दिया। आज देखती हूँ कि तुम स्वयं आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होकर भव्यात्माओं को रत्नत्रय से संस्कारित कर रहे हो।

पढ़ने में तुम कभी पीछे नहीं रहे। जो भी पढ़ाया गया, तुमने मेहनत करके मन लगाकर पढ़ा। एक दिन शाम को जब तुम खेलकर लौटे तो मैंने पूछ लिया कि "बेटे, परीक्षा पास है, तुमने तैयारी कर ली?" तुमने अत्यन्त सहज और विनम्र भाव से मेरी ओर ऐसे देखा जैसे पूछ रहे हो कि माँ, अपने इस बेटे पर तुम्हें इतना भी विश्वास नहीं है। और चुपचाप अपनी किताब लेकर मेरे पास आकर बैठ गए। मेरा मन भर आया। उस दिन तुम मुझे अपने पूरे पाठ सुनाकर ही सोए और मैं तुम्हारी पढ़ाई के प्रति सदा के लिए निश्चिन्त हो गई।

रात को भगवान के दर्शन करके मन्दिर से आकर तुम अपने छोटे भाई-बहनों को धर्म की अच्छी-अच्छी बातें समझाते थे। अपने मधुर कंठ से स्तुति गाकर सुनाते थे। कभी शान्ता बेटी तुम्हारे आने से पहले सो जाती थी तो कहते - 'अरे ! अक्का (जीजी) तो आज बिना पढ़े ही सो गयी। अच्छा, अब कल पढ़ा दूँगा।' छोटी होने पर भी तुमने अपनी दोनों बहनों को बड़ी बहन की तरह ही संबोधित किया। अपने दोनों छोटे भाइयों को गोद में उठाकर यही सिखाया कि देखो भैया, अपने जीवन में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी तीन रत्नों को जरूर प्राप्त करना। इस संसार में मुक्ति पाने के लिए यही तीन रत्न सहाई हैं। तुम अपने अंतरंग-मित्रों से भी हमेशा आत्म-विद्या पाने की बात करते थे।

जब कभी समय पाकर तुम रंगों का डिब्बा और तूलिका लेकर घर के किसी कोने में बैठ जाते थे और बड़े जतन से अपनी कल्पना को अंकित करते रहते थे, तब भले ही कोई तुम्हारी एकाग्रता, संवेदनशीलता और कला-प्रवणता को देख नहीं पाया, पर आज

जन-जन के मानस-पटल पर एक दिगम्बर जैन श्रमण की जितनी साफ-सुथरी और सौम्य-छवि तुमने अंकित की है, उसे देखकर तो सारा जग मुग्ध हो रहा है।

यौवन की देहरी पर पैर रखते ही तुम्हारा मन सुदूर सागर की अथाह जलराशि पर तैरते जहाज में रहने और इस पार से उस पार जाने का था। यह शायद तुम्हारे हृदय में लहराते करुणा के अपार सागर की पुकार थी, जो आज साकार हो गई है। आज तुम संसार-सागर से पार ले जाने वाले महानाविक हो। मन करता है कि कहूँ "जे भव जलधि जिहाज, आप तिरे पर तारहीं, ऐसे ही ऋषिराज, ते गुरु मेरे उर बसो।"

कई बार जब तुम बहुत रात बीत जाने पर भी मन्दिर से नहीं लौटते थे तब मैं चिन्तित हो जाती थी। मन करता था कि कह दूँ, इतनी रात तक मन्दिर में मत रहा करो, पर फिर यह सोचकर चुप रह जाती थी कि भगवान के द्वार पर जाने से अपने बेटे को रोकने वाली क्या मैं सच्ची माँ कहलाऊँगी? तुम यदि वीतराग-भगवान के प्रति समर्पित होकर सच्चे मार्ग पर चलते हो तो मैं तुम्हें नहीं रोकूँगी। उन दिनों मन्दिर में सारी रात तुम्हारा ठहरना शायद अपने ही भीतर ठहरने की शुरुआत थी। ❑

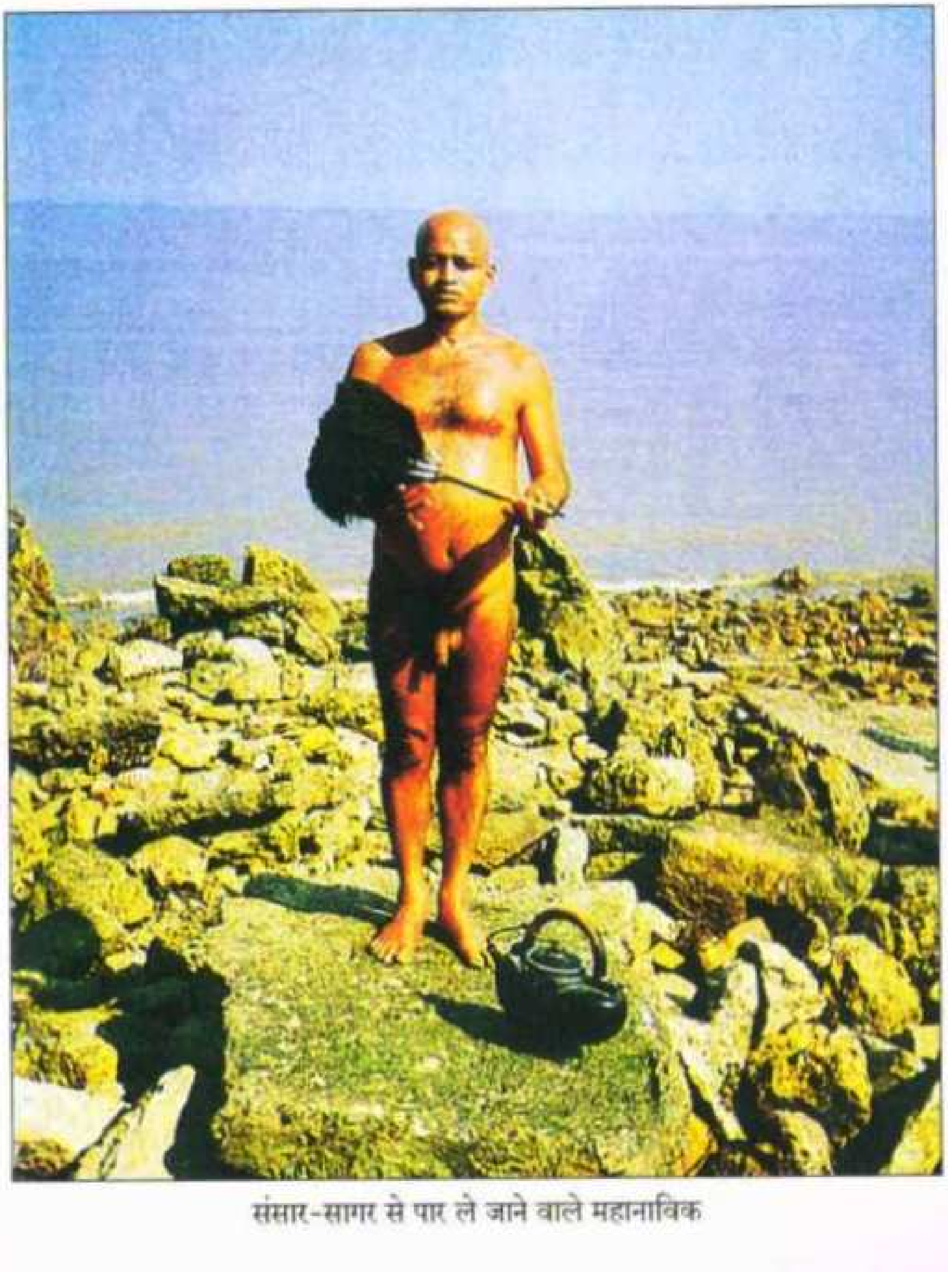

संसार-सागर से पार ले जाने वाले महानाविक

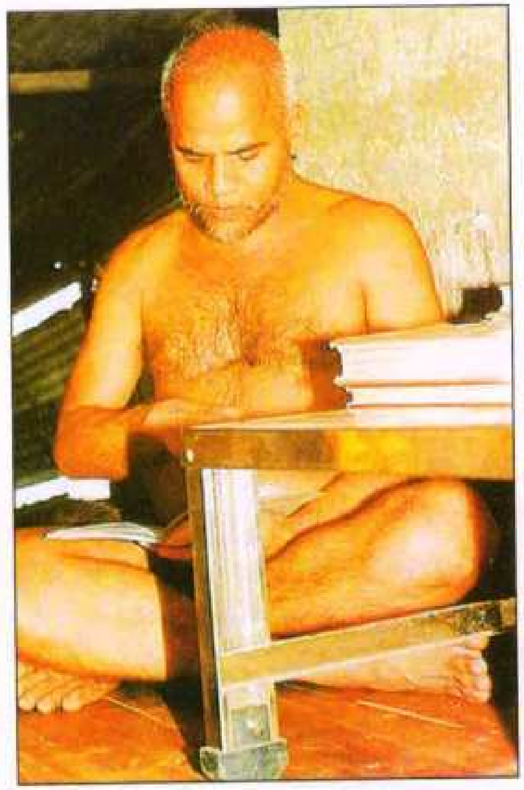

भाई शान्तिनाथ
(मुनि श्री समयसागर जी)
मुनि दीक्षा - 8 मार्च, 1980
द्रोणगिरि (म. प्र.)

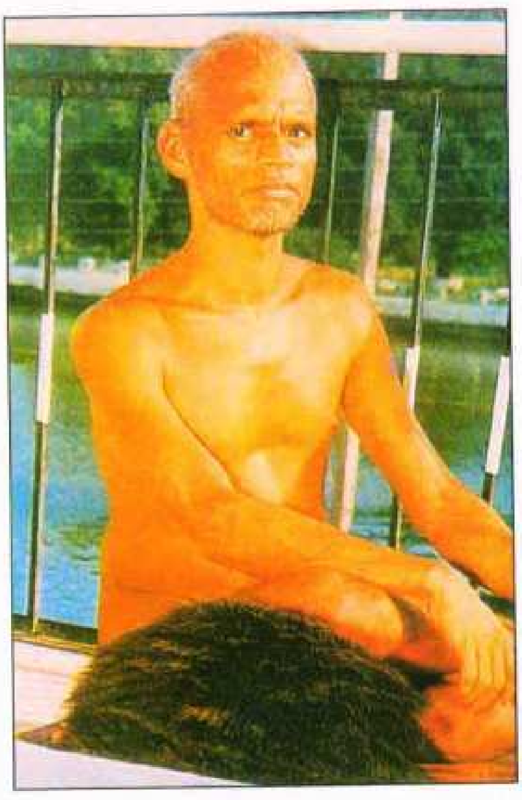

भाई अनंतनाथ
(मुनि श्री योगसागर जी)
मुनि दीक्षा - 15 अप्रेल 1980
सागर (म. प्र.)

मैंने अपने सब बेटे-बेटियों के नाम किसी न किसी पुराण-पुरुष या घटना-विशेष की स्मृति में ही रखे। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की स्मृति में अपने बड़े बेटे का नाम महावीर रखा। भट्टारक-विद्यासागर की स्मृति में तुम्हारा नाम विद्याधर रखा। शान्ता बिटिया बचपन में चुपचाप झूले में खेलती रहती थी सो उसका नाम शान्ता रख दिया। सुवर्णा के जन्म लेते ही घर में स्वर्ण खरीदा गया सो उसका नाम सुवर्णा रखा गया। अनन्त चतुर्दशी के चार-छह दिन पूर्व जन्मे अपने एक बेटे का नाम अनन्तनाथ रखा।

सबसे छोटे बेटे को बचपन में सभी लोग सुकुमाल कहा करते थे। एक दिन जब वह झूले से नीचे गिर पड़ा और हँसता रहा तब शान्तिनाथ भगवान की जय-जयकार करते हुए उसका नाम शान्तिनाथ रख दिया। अपने छोटे से जीवन में तुम सबके लिए मुझसे जैसा जितना बना उतना संस्कार दिया और हमेशा यह भावना भाती रही कि तुम सब धर्मनिष्ठ, सदाचारी और ज्ञानवान बनो। आज देखती हूँ कि तुम सबने मेरी भावना को सचमुच साकार किया है। ❑

सोचती थी, तुम्हारा ब्याह रचाऊँगी। बहू लाऊँगी, पर घर-गृहस्थी और संसार के प्रति तुम्हारी विरक्ति देखकर चुप रह जाती थी। लगता था कि जैसे एक पंछी को पिंजरे में रखकर दुलार तो किया जा सकता है, पर न तो उसे जीवन का आनन्द दिया जा सकता है और न ही उसे पिंजरे की दीवारों से बाहर खुले आकाश में उड़ने के लिए फड़फड़ाते देखकर स्वयं सुखी रहा जा सकता है। ऐसे ही यदि तुम्हें आकाश की अनन्त ऊँचाइयों पर उड़ना है तो मैं बाधक नहीं बनूँगी। आज देखती हूँ कि तुम सचमुच अनन्त आकाश में इतने ऊँचे पहुँच गये हो कि मैं चाहकर भी तुम्हें वापस अपनी गोद में बुलाने का साहस नहीं कर सकती।

घर छोड़ने से पहले कभी-कभी तुम्हारे अधरों पर खिली बच्चों-सी निश्छल मुस्कान देखकर लगता था कि मानो तुम मेरे ममत्व पर मन ही मन हँस रहे हो और किसी अनदेखे सच की ओर इशारा कर रहे हो। जैसे तालाब के शान्त जल में कंकर गिरते ही सैकड़ों लहरे उठती हैं और किनारे से टकराकर विलीन हो जाती हैं, ऐसे ही तुम्हारे जीवन के सरोवर में विविध विचार उठने और विलीन होने लगे। मैं जान गई कि तुम्हारा मन अब घर की द्वार-दीवारों में ज्यादा दिन ठहर नहीं पाएगा और सचमुच एक दिन मैंने तुम्हें अपने पिता के सामने सिर झुकाए यह कहते सुना कि ''अप्पा जी ! मैं जयपुर जाऊँगा। आचार्य देशभूषण महाराज से कुछ सीखूँगा। कुछ पढ़ूँगा। मुझे आज्ञा दीजिए।''

तुम्हारे पिता तो इन सबसे अनभिज्ञ थे। उन्होंने तो कभी सोचा भी नहीं था कि तुम घर छोड़कर कहीं और जाओगे। सो क्षणभर को वे हतप्रभ से खड़े रह गए और तुम्हारे प्रति गहरे मोह के आवेग में आकर कहा कि ''विद्याधर ! तुम घर छोड़कर कहीं नहीं जाओगे, समझे।'' शब्द बहुत थोड़े थे, लेकिन पीड़ा गहरी थी। मैं आँखों में आँसू लिए भीतर चली गई और तुम सहमे-सहमे से चुपचाप बिना कुछ कहे खेतों की ओर निकल गए।

दिन बीतने लगे। जीवन की नदी में आया ज्वार मानो थम गया, पर मैं जानती थी कि तुम मेरे, जितने सरल और लचीले बेटे हो, उतने ही अपने विचारों में दृढ़ और साहसी भी हो। तुम झुकते हो, लेकिन रुकते नहीं हो। तुम पिता के सामने झुक गये, पर रुके नहीं और मानो भीतर-ही-भीतर चलते रहे और एक दिन सदलगा गाँव की सीमा पार कर

गए। इससे पहले कि कोई तुम्हें जाते हुए देख पाए, शायद तुम अपने को समूचा देख लेना चाहते थे।

तुम्हारे चले जाने से घर सूना हो गया। मानो तुम्हारी उपस्थिति ही उसे भरा-पूरा बनाए थी। तुम कहाँ हो और कब लौटोगे, यह बात घर में किसी को नहीं मालूम थी। जब भी कहीं जरा सी आहट होती तो मुझे लगता, तुम लौट आए हो। रात के अँधेरे में कई बार मैं द्वार खोलकर बाहर देख आती थी और तुम्हें वहाँ न पाकर भारी मन से वापस लौट आती थी, फिर सारी रात यूँ ही रोते-रोते व्यतीत हो जाती थी। उन दिनों आँखों में आसुओं के सिवा कुछ नहीं सूझता था।

तुम्हारे पिता का सारा दिन खेत में क्यारियाँ बनाते, पौधों में पानी सींचते और क्षणभर ठहरकर सुदूर नीले आकाश में झाँकते, जाने किसे खोजते-खोजते बीत जाता था। जब बहुत रात गए स्वाध्याय करके वे मन्दिर से लौटकर आते, तो पूछ लेते थे कि "कहीं से कोई खबर मिली ? क्या विद्या लौट आया ? आकर सो गया होगा। सोने दो। जगाना मत। सुबह उठेगा, तब पूछ लेना; इतने दिन कहाँ रहा। उस दिन जयपुर जाने की बात करता था, वहीं गया होगा। लौट आएगा। अभी छोटा है कुछ नहीं समझता।" उनकी आँखों में भर आए आँसू देखकर मैं अपने को सँभाल नहीं पाती थी। सचमुच, हम सब तुम्हारे बिना इतने अकेले हो गये थे कि अपना दुख भी आपस में किसी से नहीं कह पाते थे।

तुम्हारे अभाव में शान्ति, अनन्त, शान्ता और सुवर्णा के पूछने पर कि, "माँ ! भइया कहाँ चला गया ? भइया कब लौटेगा ?" मैं चुप रह जाती और अपनी पीड़ा को मन में छिपाए रखकर उन्हें समझाने के लिए कोई न कोई बहाना बना देती थी। चुपचाप आँसू पोंछकर किसी न किसी काम में अपने को लगाए रखने की कोशिश करती थी।

आज यह सब सोचकर अपनी अज्ञानता और मोह की प्रगाढ़ता पर भले ही हँस लेती हूँ, पर उन दिनों जिस तरह मेरा हृदय रोता था, उसे कोई दुखिया माँ, या तुम्हारे समीप कुछ दिन रहकर फिर तुमसे विलग होने के लिए विवश हुआ कोई संवेदनशील व्यक्ति ही समझ पाएगा।

कुछ दिन बाद मालूम पड़ा कि तुम आचार्य देशभूषण जी महाराज के पास जयपुर में हो और वहाँ आचार्य महाराज की सेवा में खूब तत्परता से लगे रहते हो। चाहे कितनी ही दूर जाना पड़े पैदल चलकर, अपने हाथों प्रासुक जल और दूध आदि लाते हो। संघ के ठहरने की जगह को अपने हाथों झाड़ते-बुहारते और सावधानी से कमंडलु में प्रासुक जल डालते हो। महाराज तुम्हें आशीष देते थकते नहीं थे। कहते थे "विद्याधर", सचमुच विद्याधर है। सब विद्याएँ इसके पास हैं। जो करना हो सब आसानी से करता है। ये एक दिन जरूर सच्चा मोक्ष-पुरुषार्थी बनेगा।"

महाराज की बात सच साबित हुई। तुमने श्रवणबेलगोल पहुँचते ही महाराज के सामने सातवीं प्रतिमा के व्रत अंगीकार कर लिए। संघ में रहकर मुनिजनों की सेवा करना, भगवान की पूजा करना और छोटी-सी जैन सिद्धान्त प्रवेशिका पढ़ते रहना - यही तुम्हारा दिन भर का कार्य था।

हमारे गाँव सदलगा से श्रवणबेलगोल अधिक दूर नहीं है। सवा दो हजार वर्षों के इतिहास से समर्थित, अनेक राजवंशों के उत्कृष्ट निर्माताओं के परिश्रम से कृतार्थ, और हजार वर्षों से विश्व-विख्यात, इस तीर्थराज श्रवणबेलगोल की पावन धरा पर गोम्मटस्वामी की मनोहर मूर्ति के साथ ही छोटे-बड़े बत्तीस जिनालय और हैं।

यहाँ चन्द्रगिरि ही सबसे प्राचीन साधना-धाम है। इसे हम चिक्कबेट्ट भी कहते हैं। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी की साधना और समाधि, ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में इसी पर्वत पर सम्पन्न हुई। जिस गुफा में भद्रबाहु स्वामी ने तपस्या की थी, उसमें उनके चरण-चिह्न आज भी पूजे जाते हैं। शिलालेख और पुराण बताते हैं कि उनके पश्चात् उनके प्रिय शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी धर्म-साधना करते हुए इसी पर्वत पर समाधिमरण प्राप्त किया।

विंध्यगिरि यहाँ के बड़े पर्वत का नाम है। अपनी स्थानीय भाषा में हम इसे दोड्डबेट्ट कहते हैं। पूरा पर्वत एक ही चट्टान का बना दिखाई देता है। लगभग पाँच सौ सीढ़ियाँ चढ़कर हम ऊपर मन्दिर के बाहरी परकोटे तक पहुँचते हैं। इस परकोटे के भीतर सात जिन मन्दिरों का समूह और इसी चट्टान में उकेरी गई गोम्मटस्वामी की भुवन-मोहनी प्रतिमा स्थित है, जो आकाश की तरह निर्मल और कल्पना की तरह विशाल है। जिसकी आकृति में शुचिता, शक्ति, सौन्दर्य और शैशव की सरलता एक साथ झलकती है। जो सारे विश्व के लिए विस्मयकारी है। जिसकी ओर उठने वाली दृष्टि क्षण भर के लिए उसी में खोकर रह जाती है। जितनी बार देखो, वह हर बार नए रूप में सामने आती है। वह एकदम जीवन्त प्रतिमा है।

सन् 1967 में जब भगवान बाहुबली के द्वादश वर्षीय महामस्तकाभिषेक की तैयारियाँ चल रही थीं, तभी सुना कि जयपुर से चलकर विहार करते हुये आचार्य देशभूषण जी महाराज अभिषेक में पधारेंगे। तुम भी महाराज के साथ आओगे, ऐसा मुझे विश्वास था। सुनकर हर्षित हुई कि चलो इस बहाने तुम्हें समीप से देख लूँगी। दो बातें धर्म की कर लूँगी, पर चाहकर भी तुमसे मिल नहीं पायी।

अभिषेक के बाद आचार्य-संघ के साथ तुम श्रवणबेलगोल से स्तवनिधि पहुँच गए। स्तवनिधि के एकान्त और शान्त वातावरण में आचार्य-संघ के साथ तुम कई दिन रहे। इस बीच बड़ा बेटा महावीर तुमसे मिलने गया था। उसने तुम्हें समझाया भी था कि "विद्या, घर लौट चलो। जिन्दगी बहुत बड़ी है। घर में रहकर अध्ययन, चिन्तन-मनन करना। धर्म-ध्यान में लगे रहना, कोई बाधक नहीं बनेगा। मैं तुम्हें लेने आया हूँ। तुम

कहो तो मैं माँ-पिता दोनों को यहीं लिवा लाऊँ। सारे संघ के दर्शन हो जाएँगे और महाराज से आज्ञा लेकर तुम्हें भी साथ ले चलेंगे।" तुम सब सुनकर भी कुछ नहीं बोले। चुपचाप मुस्कराते रहे। महावीर तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना लौट आया और हम सभी स्तवनिधि पहुँचने की तैयारी करने लगे।

उस क्षण तुम्हारी मुस्कान जितनी सहज थी शायद उतनी ही किसी आगामी संकल्प की सूचक भी थी। तुमने बाहर से चुप रहते हुए भी, भीतर ही भीतर तय कर लिया था कि अब कोई परिवार का व्यक्ति मिलने आए और घर लौट चलने का आग्रह करे, इसके पहिले ही तुम्हें अपने गन्तव्य तक पहुँच जाना है। तुम्हें संघ के साथ रहकर ज्ञात हो गया था कि धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन की सुविधा आचार्य शिवसागर जी महाराज के संघ में पर्याप्त है। वहाँ एक विद्वान मुनि ज्ञानसागर जी हैं जो सारे संघ को जैन-सिद्धान्त और दर्शन का गूढ़ अध्ययन कराने में निष्णात हैं। सभी बातें सोचकर संध्या-बेला में आचार्य देशभूषण जी महाराज के पास जाकर तुमने विनत भाव से अपनी आगामी यात्रा की स्वीकृति ले ली और जयपुर की ओर चल पड़े।

भावनाओं की पवित्रता और प्रबलता ने अनायास ही तुम्हारे मार्ग को आसान बना दिया। स्तवनिधि के मन्दिर के बाहर निकलते ही कोल्हापुर की गाड़ी तुम्हारे जरा से इशारे पर ठहर गई।

दादर स्टेशन पर पहुँचकर बम्बई जाने के लिए तुम लोकल ट्रेन की बजाय टैक्सी में बैठ गए, जब टैक्सी वाले ने स्टेशन पहुँचकर पैसे माँगे तो टिकट खरीदने के बाद बचे हुए दो रुपये तुमने उसके हाथ पर रख दिए। उसने क्षणभर तुम्हारी सौम्य शान्त मुद्रा को देखा और चला गया। मानो तुम्हारे हाथ से उसने जीवन की अमूल्य निधि पा ली हो। आज भी देखती हूँ कि तुम्हारे मुख पर खेलती मुस्कान का प्रसाद और आशीर्वाद के लिए उठे हाथ की अभय-मुद्रा देखकर हर व्यक्ति यही अहसास लेकर लौटता है कि मानो उसने सब कुछ पा लिया।

अजमेर पहुँचकर तुम पहले ब्रह्मचारी विद्याकुमार सेठी और कजोड़ीमल जी अजमेरा से मिले। तुम्हारा उनसे थोड़ा सा परिचय पिछले बार जयपुर से श्रवणबेलगोल जाते समय हो गया था। जब उन्हें मालूम पड़ा कि तुमने लगातार दो दिन से देवदर्शन के अभाव में पानी भी ग्रहण नहीं किया तो वे अत्यन्त वात्सल्यभाव से तुम्हारी व्यवस्था में लग गए।

दूसरे दिन तुमने अपने आने का उद्देश्य बताया। सुनकर वे बड़े हर्षित हुए। बोले, "अच्छा किया। ठीक समय पर आ गए। आचार्य शिवसागर जी महाराज के संघ में जो मुनि ज्ञानसागर जी महाराज अध्ययन कराते थे वे इन दिनों किशनगढ़ में विराजे हैं। हम सभी लोग उन्हें अजमेर पधारने के लिए निमन्त्रण देने जा रहे हैं। चलो तुम भी हमारे साथ चलो। आज ही महाराज के दर्शन हो जाएँगे।" ❑

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी (आहार लेते हुए)

जब सुबह की खिलती धूप में तुमने किशनगढ़ के मन्दिर की सारी सीढ़ियाँ एक-एक करके पूरी पार कर लीं तब अनायास सामने एक साधारण-सी चौकी पर सुदर्शन दिगम्बर देह में गहराते, असीम ज्ञान के सागर को देखकर तुम्हारे भीतर भी आनन्द का अपार पारावार लहरा उठा। पथ की सारी थकान भूलकर तुम विनत होकर चरणों में झुकते चले गए। मानो नदी सागर में मिलकर स्वयं खो गई।

तुम्हारे विनम्र प्रणाम की अत्यन्त धीमी ध्वनि और सामीप्य का हलका-सा अहसास पाकर अपने चिन्तन मनन में लीन महाराज की दृष्टि ऊपर उठी। उन्होंने क्षण भर तुम्हें देखा, फिर अपने में खो गए। पर जाने क्यों तुम्हें लगा कि महाराज निरन्तर तुम्हें देख रहे हैं। तुम उनकी आँखों में पर्त-दर-पर्त खुलते चले जा रहे हो। मानो, तुम्हारा हर रहस्य, हर बात, तुम्हारे मन की गहन प्यास वे जान गए हैं। जाने कैसी निर्मल, दया से द्रवीभूत और पारदर्शी थी महाराज की दृष्टि, जो पलभर में तुम्हारे मर्म को भेद गई। तुम भीतर ही भीतर पिघलते/गलते चले गए और यही आत्मीय-समर्पण तुम्हें शिष्यत्व की ऊँचाइयाँ छूने के लिए पहली सीढ़ी बन गया।

अध्ययन से विश्राम पाकर थोड़ी देर बाद महाराज ने बड़े प्रेम से पूछा कि नाम क्या है तुम्हारा ? तुमने धीरे से अबोध शिशु की तरह कहा, "विद्याधर"। महाराज मुस्कराए और बोले - "हमारे साथ रहोगे तो विद्यानन्दि बना देंगे।" तुम उन दिनों नहीं जानते थे कि विद्यानन्दि प्राचीन काल में श्लोकवार्तिक ग्रन्थ की रचना करने वाले कितने बड़े और कितने महान् आचार्य हुए हैं। उस क्षण गुरु के अवलम्ब का आश्वासन पाकर तुमने अनुभव किया कि नितान्त अशरण होकर भी तुम शरण पा गए हो। मानो अपने को खोकर तुम अपने को पा गए हो। ❑

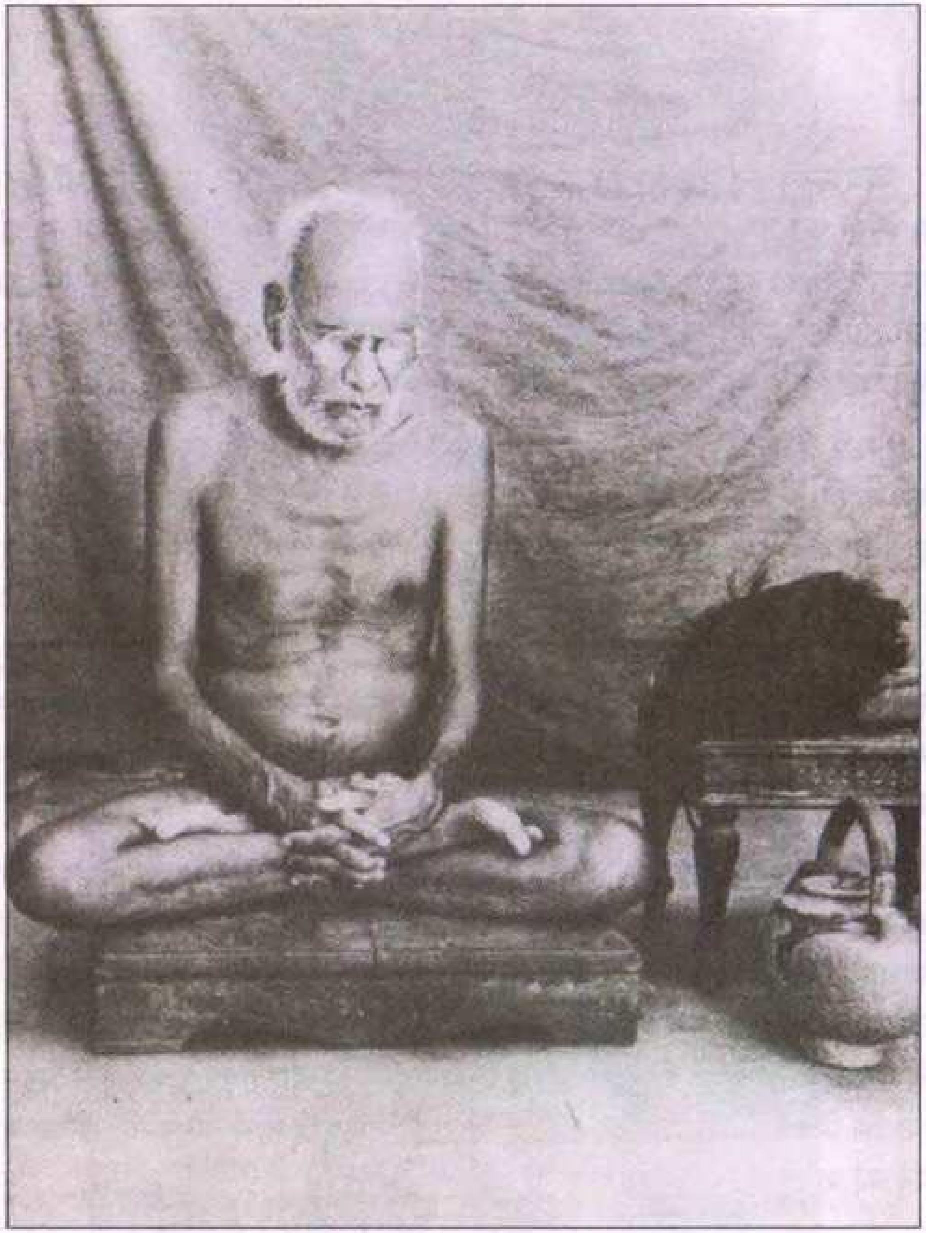

पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी

दीक्षा के कुछ दिन बाद जब मैंने तुम्हें देखा, तब लगा कि अब तुम्हारी उपस्थिति मात्र ही जीवन को जाग्रत और रूपान्तरित करने के लिए पर्याप्त है। जो संवेदनशील हैं, वे इस अनुभूति के साक्षी हैं। तुम्हारी कल्याणी-वाणी में अब आत्मानुभूति स्पष्ट झलकती है। तुम्हारे चिन्तन में चेतना की ऊँचाई और साधना की गहराई है। तुम्हारी मुस्कान में आत्मा की सुगन्ध और सौन्दर्य दोनों है। तुम्हारी वीतराग-चितवन से करुणा निरन्तर झरती है। असल में, तुम्हारा समूचा व्यक्तित्व अब सूरज की रोशनी की तरह उज्ज्वल और अनुपम हो गया है।

चारों ओर बिखरी इन्द्रिय-विषय सामग्री अब तुम्हें विस्मय-विमुग्ध और विदग्ध नहीं कर पाती। विषय-सामग्री का आकर्षण तुम्हें लुभा नहीं पाता। तुम उन सबके बीच रहकर भी उससे बहुत दूर किसी आत्म-आलोक में विचरण करते मालूम पड़ते हो।

बाह्य-स्पर्श का क्षणिक सुख तुम्हारी अन्तरंग मृदुता के असीम-आनन्द में मानो स्वयं ही खो गया है। सारे रस छूकर तुम्हारी रसना मानो उत्तीर्ण हो गई है। आत्म-सौरभ में भीगी तुम्हारी चेतना सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों के बीच समत्व को प्राप्त हो चुकी है। अब सब तुम से आकृष्ट होते हैं और कोई बाह्यरूप तुम्हें आकृष्ट नहीं कर पाता। आगम की आँख से देखने वाले तत्त्व-दृष्टा होकर तुम, इस लोक को चर्म-चक्षुओं से देखने के लिए अब जरा भी उत्सुक नहीं हो। और मानो ध्वनियों का संसार तुम्हारी चेतना के दिव्य-स्वरों में समा गया है।

सचमुच, आत्म-स्पर्श से श्रेष्ठ कोई स्पर्श नहीं, आत्म-रस से बढ़कर कोई रस नहीं, आत्म-सौरभ से अच्छी कोई गंध नहीं, आत्म-दर्शन से सुन्दर अन्य कोई दृश्य नहीं और आत्मा की आवाज से श्रेयस्कर कोई आवाज नहीं; इसलिए रागान्वित होकर तुम्हारे जैसे साधक के द्वारा कुछ छुआ जाना, कुछ चखना, कुछ सूँघना, कुछ देखना या कुछ सुनना सम्भव ही नहीं है। जो सहज सामने आता है, उसे उसकी वास्तविकता में जानना, देखना और अनुभव कर लेना ही तुम्हारा कौशल है। तुम इन्द्रिय-विजयी हो गए हो।

तुम्हारे भीतर प्रकट हुए महाव्रतों को देख रही हूँ। सकल चराचर तुम्हारे आत्म-प्रेम में समा गए हैं। लगता है, जैसे सब तुम्हारे अपने हों और तुम स्वयं अपने-पराए के भेद को पार कर गए हो। तुम्हारे जीवन में सभी के प्रति गहरी आत्मीयता और अपनापन आ गया है। तुम अहिंसा की जीवन्त प्रतिमूर्ति हो गए हो । अहिंसा तुम्हारे लिए मात्र विचार नहीं है, वह तुम्हारे आचरण का अभिन्न अंग बन गई है, मानो अहिंसा तुम्हारे प्राण हैं। अहिंसा तुम्हारी जीवन-शक्ति है, जो करुणा, मैत्री और वात्सल्य बनकर सब ओर बरस रही है। सभी में जीवन का रस भर रही है।

अब तुम्हारे द्वारा झूठ बोला जाना या तुम्हारा झूठा होना, दोनों ही संभव नहीं है। कोई पराया हो तो उससे झूठ बोला जाये या उसके प्रति झूठा व्यवहार किया जाए। जब सभी ओर अपनापन हो या अपने पराए का भेद ही न हो तब किसी के प्रति असत्य होने का भाव ही नहीं आता। इस तरह तुम्हारे तन-मन-प्राण सभी में सच्चाई समा गई है।

चीजों की व्यर्थता तुमसे छिपी नहीं है। तुम जान गए हो कि वस्तु का सम्यक् उपयोग करना ही ठीक है, लेकिन उसे लेकर अपने-पराए का भाव रखना और व्यर्थ उलझना ठीक नहीं है। वास्तव में, अपने सिवा यहाँ अपना कुछ भी नहीं है। जो अपना है, उसे कोई छीन नहीं सकता और जो अपना नहीं है, उसे किसी से छीनकर अपना बनाया नहीं जा सकता - यह आत्मबोध तुम्हारे भीतर अचौर्य को प्रकट करने में सहायक हुआ है। चीजों को लेकर ही नहीं, बल्कि अपने शरीर के प्रति भी तुम्हारे मन में ममत्व-भाव नहीं रहा। मिट्टी, पानी और हवा के सिवाय दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका भी तुम किसी के द्वारा दिए बिना ग्रहण नहीं करते।

असल में, तुम्हारे भीतर व्यक्ति या वस्तु किसी के भी प्रति मूर्छा नहीं रही। स्वामित्व का भाव नहीं रहा। अब तुम अपने स्वामी आप हो गये हो। अगर ठीक से देखा जाए तो जितना हम दूसरे के मालिक बनने की कोशिश करते हैं, कहीं गहरे में उतने ही हम उसके गुलाम होते जाते हैं। तब चीजें हमें नहीं पकड़तीं हम स्वयं उन्हें पकड़ लेते हैं और बँध जाते हैं। तुम ऐसी परतन्त्रता से मुक्त हो गए हो। तुम स्वाश्रित और स्वतन्त्र हो। अपने में पूरे हो। कोई कमी या अधूरापन तुम्हें महसूस ही नहीं होता जिसे भरने के लिए बाह्य वस्तुओं की जरूरत हो। अपरिग्रह की यही उपलब्धि है।

आत्म-आनन्द में डूबकर तुम अपने में अत्यन्त संतुष्ट हो। अपने से पृथक् किसी और के साथ की तुम्हें जरूरत नहीं रही। आत्म-रमण ही पर्याप्त है। बाह्य-सृजन से परे अपने आत्म-सृजन की अनन्त संभावनाओं को तुम जान गए हो, तभी तो आत्म-सृजन का आनन्द तुम्हारे अंग-अंग से झलक उठा है। काम-ऊर्जा मानो निष्काम हो गई है। ब्रह्मचर्य की यही श्रेष्ठ अवस्था है। उस अवस्था को पा लेने पर हम अपने शील/स्वभाव

से विचलित नहीं होते और निरन्तर आत्म-प्रेम से भरकर अपने आत्म-स्वरूप की ओर बढ़ते जाते हैं। तुम्हारा प्रतिक्षण अपने आत्म-स्वरूप में लीन रहना अब कोई भी सहज ही देख सकता है।

सुनती थी कि संयम की ऊँचाइयों पर पहुँचकर आत्मा स्वयं पाप से मुक्त हो जाती है, तब पाप हो पाना मुश्किल होता है। देख रही हूँ कि तुम संयम की ऐसी ही ऊँचाइयों पर आरोहण कर रहे हो। अब तुम्हारे द्वारा पाप संभव नहीं है। तुम निष्पाप और निर्दोष हो।

तुम्हारे साथ पीछे-पीछे दो कदम भी नहीं चल पाती हूँ और ऐसा लगने लगता है कि हमें तो अभी ठीक से चलना भी नहीं आता। सजग और शान्त भाव से, दिन की रोशनी में, चार हाथ आगे, मार्ग को देखकर चलना, तुम्हारे लिए एकदम आसान हो गया। अब तुम्हारा हर कदम गहरी आत्मीयता से भरकर उठता है, ताकि सभी की रक्षा हो सके और अपने आगे बढ़ने से किसी को पीड़ा न हो। दूसरे को पीड़ा पहुँचाकर अपने लिए रास्ता बनाना तुम जैसे साधक के लिए संभव ही नहीं है। ईर्या-समिति यही है।

जब तुम बोलते हो तो लगता है कि सुनते ही रहें। तुम बहुत थोड़ा और सोच-समझकर बोलते हो, जो सभी के लिए हितकर होता है। तुम्हारी हित-मित और प्रिय वाणी में जीवन के सारे प्रश्न सुलझ जाते हैं। सुनती हूँ कि अमृत-पान करने वाले देवों को भी जन्म-मरण की पीड़ा सहनी पड़ती है, पर देखती हूँ कि तुम्हारी वाणी का अमृत पीकर कोई चाहे तो जन्म-मरण से पार हो सकता है। भाषा-समिति की यही उपलब्धि है।

तुम्हें अपने संयम में सहायक उपकरण पिच्छिका, कमण्डलु और शास्त्र उठाते-रखते देख रही हूँ। अत्यन्त सजग और शान्त भाव से ये सभी उपकरण आवश्यकता पड़ने पर तुम उठाते और रखते हो। शरीर भी एक उपकरण है, सो उसे भी बैठने और उठने से पहले तुम अच्छी तरह से देखभाल कर पिच्छिका से परिमार्जित कर लेते हो। यही आदान-निक्षेपण समिति है। इसमें जीवरक्षा भी होती है और प्राणी तुम्हारी मृदुता का स्पर्श पाकर धन्य हो जाता है।

आहार के समय तुम्हारी सजगता, अनासक्ति और सरलता देखकर दंग रह जाती हूँ। निर्दोष-विधि से सरस और नीरस सभी तरह का आहार मुस्कुराते हुए शान्त भाव से ले लेना, अनूठी साधना है। शरीर के निर्वाह के लिए, तप की वृद्धि के लिए और अन्य मोक्षमार्गी साधकों की सेवा के लिए अनासक्त भाव से निर्दोष आहार ग्रहण करना ही एषणा-समिति है।

सुनती हूँ कि मल-मूत्र के विसर्जन में भी तुम अत्यन्त सावधानी रखते हो। स्थान वसतिका से दूर हो, प्रासुक हो, लोगों के आवागमन से रहित हो, निर्जन्तुक हो, छिद्र-

रहित और पर्याप्त हो – इन सभी बातों का अवलोकन तुम पहले से कर लेते हो ताकि विकृतियों के विसर्जन से किसी को पीड़ा न हो। स्वयं निर्विकार होने के लिए विकारों का विसर्जन कहाँ/कैसे करना, इस बात की सावधानी रखना, यही तो प्रतिष्ठापन समिति है।

जब तुम्हें सामायिक के क्षणों में समत्व की ऊँचाइयाँ छूते देखती हूँ, तब आत्म-विभोर हो जाती हूँ। लगता है इन दुर्लभ क्षणों में तुम्हारे समीप बैठकर कुछ क्षण मैं भी समत्व का आनन्द ले लूँ, पर तुम्हारी माँ होकर भी तुम्हारे जैसी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। मेरे तेज-पुंज तो तुम्हीं हो। सो तुम्हें तीनों संध्याओं में अपने आत्म-स्वरूप में निमग्न देखकर आनन्दित हो लेती हूँ। मेरी मुक्ति का द्वार ऐसे ही खुलेगा। सामायिक मुनिजनों के छह आवश्यक कार्यों में से एक आवश्यक कार्य है। अवश होकर अर्थात् इन्द्रियों के आधीन न होते हुए अत्यन्त स्वाधीन होकर अवश्य करने योग्य प्रक्रिया है। यह समत्व की गहरी साधना है। विविध-विकल्पों और विषमताओं के बीच भी शान्त और निराकुल बने रहना इसकी कसौटी है।

सभी तरह की बाह्य-क्रियाओं से एक निश्चित समय के लिए विरक्त और मुक्त होकर अपने में ठहर जाना और निरन्तर देखना कि आत्मा और शरीर के बीच भेद-रेखा कहाँ है, यह सामायिक की उपलब्धि है। असल में, सामायिक के क्षणों में एक ऐसी अन्तर्दृष्टि हम पा लेते हैं जिसमें सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग जैसी तमाम बाह्य विषमताएँ लुप्त हो जाती हैं और चेतना विशुद्ध होकर प्राणीमात्र के प्रति एक सुखद मंगल-भावना से भर जाती है।

सामायिक के क्षणों में तुम्हारे चारों ओर फैली आभा और चेहरे पर सर्वत्र छायी शान्ति देखकर लगता है कि तुम चेतना की विशुद्ध-दशा को उपलब्ध हो गए हो।

एक दिन अनायास सुबह-सुबह भगवान के समीप तुम्हें विनत भाव से खड़े देखकर मैं भी वहाँ ठहर गई। तुम स्तुति और वंदना में खोए थे। स्वर में समरसता थी। वाणी में मिठास। साँसों में लयात्मकता और भगवत्ता के प्रति गहरी आस्था थी। प्राणों में आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण था। उन क्षणों में मानो तुम अपना सर्वस्व श्री भगवान के चरणों में सौंपने को तत्पर थे। लगता था जैसे भगवान के सम्मुख उपस्थित होकर भी तुम स्वयं को अनुपस्थित करना चाहते हो। मानो तुम होकर भी नहीं होना चाहते हो। "मैं" और "मेरेपन" से मुक्त होने का यह प्रयास अद्‌भुत है। भगवान के गुणों में लीन होकर तन-मन-प्राण सब झुकते चले जाएँ, यही स्तुति और वन्दना की उपलब्धि है।

सुबह होने और साँझ ढलने से पहले मैंने तुम्हें अपने जाने-अनजाने सभी दोषों का निराकरण करने के लिए तत्पर देखा है। इन क्षणों में तुम समस्त बाह्य प्रवृत्ति को छोड़कर

भीतर आते मालूम पड़ते हो। अपनी ओर वापस लौट आने की यह रचनात्मक प्रक्रिया, प्रतिक्रमण कहलाती है।

प्रतिक्रमण के क्षण आत्म-निरीक्षण और आत्म-शोधन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन क्षणों में मैंने तुम्हें तटस्थ होकर अपनी हर प्रवृत्ति का लेखा-जोखा करते देखा है। मैंने सुना है, इन क्षणों में तुम्हें यह कहते हुए कि दिन-रात के इस कालक्रम में मुझसे जो भी अपराध हुआ हो वह मिथ्या हो। भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ। मन-वचन-काय से समस्त अशुभ प्रवृत्तियों का परित्याग करता हूँ। इन्हें न तो स्वयं करूँगा, न करवाऊँगा और न ही किये जाने को अच्छा मानूँगा। भगवन् ! मैं उनके अतिचारों का भी प्रतिक्रमण करता हूँ। गुरु साक्षीपूर्वक गर्हा करता हूँ। आत्म-साक्षीपूर्वक निन्दा करता हूँ। मैं न केवल सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता हूँ, अपितु जब तक मैं भगवान् के अनुचिन्तन/आराधन में हूँ तब तक के लिए समस्त दूषित सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ।

इस तरह प्रतिक्रमण की प्रक्रिया से गुजरकर अपने दोषों को प्रक्षालित करके तुम क्षण भर में आकाश की तरह असीम और अनाविल हो जाते हो। इन क्षणों में तुम सागर की तरह अपने अंतस् के समस्त विकारों को हटाकर और निर्मल होकर अधिक गहरे दिखाई पड़ते हो।

आहार-चर्या से लौटने पर अपने गुरु ज्ञानसागरजी के चरणों में बैठकर जब तुम बड़ी विनय और श्रद्धा के साथ एक निश्चित समय के लिए सभी प्रकार के आहार का त्याग कर देते हो, तब मैं सोचती हूँ कि सचमुच, जो ग्रहण करते समय जितना अनासक्त होता है वह ग्रहण की गई वस्तु को उतनी ही सहजता से छोड़ भी देता है। ग्रहण की गई वस्तु से उत्पन्न दोषों को दूर करके आगामी काल में उन दोषों से बचने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होना साधक की अपरिमित इच्छा-शक्ति और आत्म-विश्वास का प्रतीक है। यही प्रत्याख्यान की उपलब्धि है।

तुम्हें कायोत्सर्ग में लीन होते देखकर लगता है कि तुम सहज ही देह में पृथक् अपने को देख रहे हो। तुम देह में होकर भी अपनी चेतना के समीप हो। तुम्हें अपनी ही आँखों के आगे अपने में समाहित होते देखकर मैं ठगी-सी खड़ी रह जाती हूँ। तुम्हें इस जगत् के प्रपंच से दूर और देह से बेखबर होकर अपने ही अंतस् में झाँकते देखकर, मैं जैसे समझकर भी कुछ समझ नहीं पाती। स्वसंवेदन का आन्तरिक जगत् तुम्हारे जैसे विरले श्रमण-भगवन्तों के द्वारा ही निर्बाध विचरण करने योग्य है। शुद्धात्मानुभूति की झलक भी तुम्हारे जैसे योगीजनों के लिए सुलभ है। तुम निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप में विचरण करते रहो और हम अज्ञानी-जन तुम्हें देखकर अपने आत्म-कल्याण का मार्ग जान लें। तुम्हारा कार्योत्सर्ग हमें इस देह से अनासक्त होने की प्रेरणा देता रहे।

जब भी तुम्हारे चरण-सान्निध्य में आती हूँ, तुम्हें सुनती हूँ, तत्त्व-चर्चा में शामिल होती हूँ, आहार देती हूँ, तब देखती हूँ कि तुम्हारी भोली-भाली वीतराग चितवन सभी का मन मोह लेती है। दिगम्बर नग्न देह से निरन्तर झरते सौन्दर्य में सभी का मन इतना मग्न हो जाता है कि देह का अनावरित होना मन को जरा भी विकृत नहीं करता। सचमुच, जो यथाजात है वही सर्वांग सुन्दर है। उसे अपने आत्म-सौन्दर्य के अतिरिक्त किसी भी बाह्य वस्त्र-आभूषण की आवश्यकता नहीं है। कभी-कभी सोचती हूँ कि हम अपनी आन्तरिक कलुषता और विकारों को छिपाने के लिए वस्त्र-आभूषण ग्रहण करते हैं। जहाँ सब प्रकृति की भाँति निश्छल व निर्विकार है, वहाँ दुराव या विकार-विभाव संभव ही नहीं है।

तुम्हारी निर्विकार, निरालम्ब और निर्दोष दिगम्बर देह से वीतरागता का संदेश निरन्तर सभी को मिलता है। आत्म-जागृति और आत्म-ज्ञान के साथ बाहर-भीतर सभी ओर से नग्न/निर्ग्रन्थ हो जाना, दीर्घ साधना और जन्म-जन्मान्तरों की गहन तपस्या से संचित पुण्य का प्रताप है। तुम्हारे इस अचेलकत्व को प्रणाम करती हूँ।

देखती हूँ कि तुम स्नान भी नहीं करते, पर एकदम उजले और पावन लगते हो। सोचती हूँ कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की त्रिवेणी में तुम्हारी आत्मा प्रतिक्षण प्रक्षालित होकर पवित्र होती रहती है और ब्रह्मचर्य के तेज में तपकर देह कुन्दन-सी दमक उठती है। सच्चा स्नान तो यही है। अस्नान-व्रत की उपलब्धि भी यही है।

एक दिन बड़े सबेरे तुम्हें मन्दिर के बाहर दालान के एक कोने में बैठकर चुपचाप केशलुंचन करते देखा तो देखती ही रह गई। चेहरे पर चिरपरिचित हल्की-सी मुस्कान थी। आँखों में गहरी निस्पृहता और गम्भीरता थी। लग रहा था जैसे अपनी ही केशराशि को उखाड़कर फेंकते जाने की इस प्रक्रिया को तुम स्वयं साक्षी-भाव से देख रहे हो। देख रहे हो कि शरीर और आत्मा के बीच क्या कोई रिश्ता शाश्वत है या दोनों एकमेक होकर भी पृथक् हैं।

मैं सोचती हूँ कि दो-तीन माह या ज्यादा से ज्यादा चार माह में, तुम केशलुंचन की प्रक्रिया से गुजरकर अपना इम्तहान स्वयं ही लेते हो। वास्तव में, यह प्रक्रिया बाहर से भले ही कठिन और अनावश्यक मालूम पड़ती है, पर स्वयं को परखने, सुदृढ़ और स्वाश्रित बनाने में लगे साधक के लिए अत्यन्त आसान और आवश्यक होती है। इस दौरान साधक अनुभव करता है कि शरीर पृथक् है और आत्मा पृथक् है। भेद-विज्ञान की यही कसौटी है और केशलुंचन का सुफल भी यही है।

जब दिन भर में एक बार तुम्हें खड़े-खड़े आहार ग्रहण करते देखती हूँ, तब लगता है कि एक भिक्षु को प्रतिक्षण सजगता कितनी अनिवार्य है। देह के प्रति क्षण-भर भी

प्रमाद न हो। देह डगमगाए, इससे पहले ही स्वयं को सँभाल लेना है। यह साथ छोड़े उससे पहले ही हमें अनासक्त होकर स्वयं इसे छोड़ देना है। समाधिस्थ होने का प्रयत्न करना है। इसके टूटकर गिरने से पहले स्वयं को ऊँचा उठाना है।

अगर गौर से देखा जाए तो निरालम्ब खड़े होकर अतिथि-भाव से, पाणिपात्र में आहार ग्रहण करना, गहरे संतुलन और आत्म-नियन्त्रण की निशानी है। यह अलिप्त और अप्रमत्त होने का विनम्र प्रयास भी है। तुम इस प्रक्रिया में निष्णात हो और सजग शान्त भाव से दिन में एक बार खड़े होकर आहार ग्रहण करते हुए भी आठों याम आत्म-रस में निमग्न रहते हो।

आहार ग्रहण करने से पहले या आहार ग्रहण करने के उपरान्त कभी भी मैंने तुम्हें दन्तपंक्ति माँजते नहीं देखा। सुनती हूँ कि तुम्हारा अदन्तधावन व्रत है। सो ठीक ही है, तुम्हारे जैसे आत्म-शृंगार में तत्पर योगी के लिए दन्तपंक्ति का शृंगार अनावश्यक ही है।

सुना है कि तुम बहुत रात बीत जाने पर भूमि, काष्ठ-फलक या तृण के ऊपर थोड़ी देर सो लेते हो। सोचती हूँ कि तुम सोते तो नहीं होगे, दिन-भर के श्रम से थकी देह को जरा देर विश्राम ही तो देते होगे। अब तुम कभी सो नहीं सकते। अपने में सदा जाग्रत रहना तुम्हारी कुशलता है। जिस मोह की अँधियारी में सारा संसार सोता है, तुम अहर्निश जागते रहते हो। यही तुम्हारे भू-शयन की उपलब्धि है।

इस तरह देखती हूँ कि तुमने अपने इन्द्रिय और मन पर स्वयं ही अंकुश रख लिया है। तुम आत्मानुशासित हो गए हो, सो साधुता अनायास ही तुम्हारे भीतर प्रकट हो गई है। कबीर ने ठीक ही लिखा है कि - 'तन को जोगी सब करै मन को बिरला कोय। सब सिधि सहजै पाइए, जो मन जोगी होय' - जो मन से योगी हो गया उसने सब सिद्धियाँ सहज ही पा लीं। तुम्हें देखकर ऐसा ही लगता है। ❑

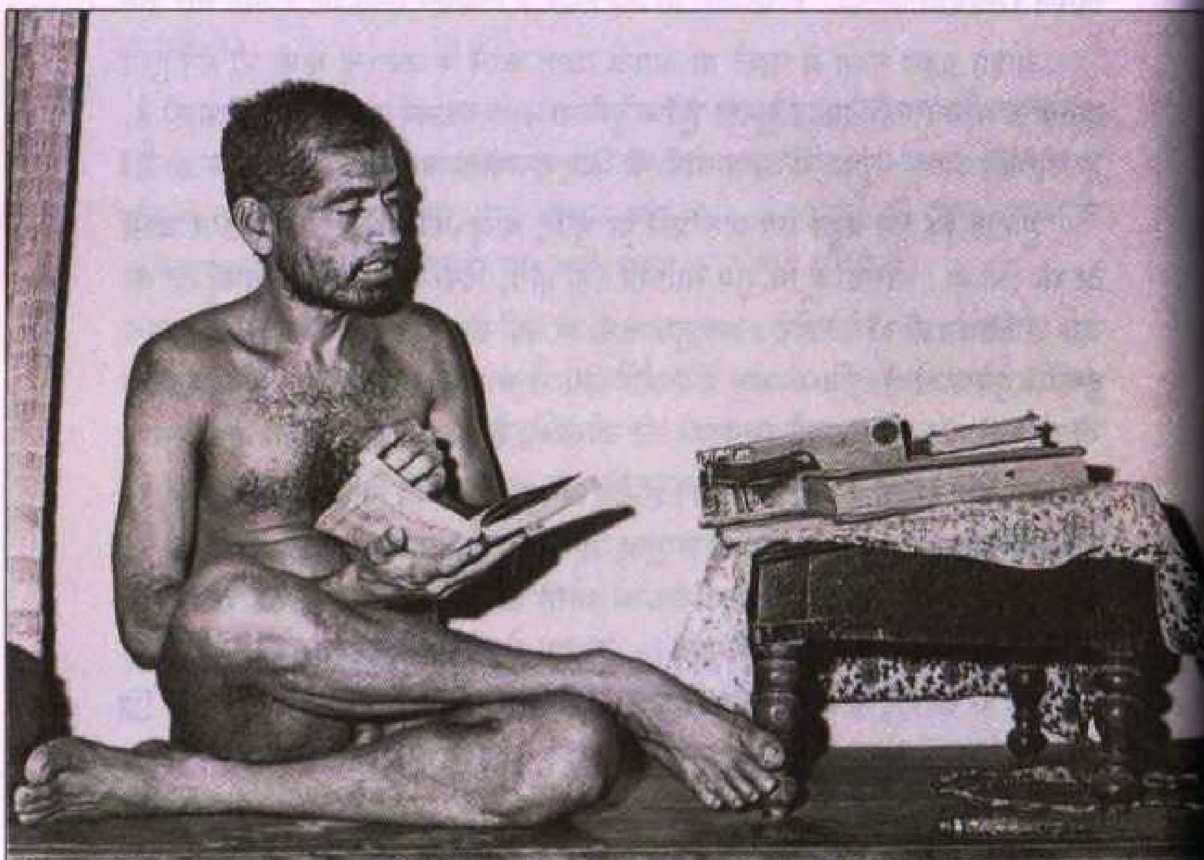

अध्ययन-मनन में परिपक्व

अपने ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध और वयोवृद्ध गुरु के श्रीचरणों में बैठकर तुमने जो भी सीखा, उसे देखकर कोई भी आसानी से कह सकता है कि यह ज्ञान अल्पवय में भी व्यक्ति को परिपक्व बनाने में सक्षम है। एक दिन शाम को प्रतिक्रमण करके आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज बाहर दालान में आकर बैठे ही थे कि किसी ने पूछ लिया - ''महाराज! आप चिरदीक्षित मालूम पड़ते हैं, आपको दीक्षा लिए कितने वर्ष बीत गए?'' महाराज मुस्कुराए और बोले कि अभी-अभी दीक्षित होकर आ रहा हूँ। यह बात सुनकर सभी लोग चकित हुए और सोच में पड़ गए कि इसका क्या अर्थ है? तब आचार्य महाराज ने सहज भाव से समझाया कि ''प्रतिक्रमण करके निर्दोष होकर अभी-अभी तो बाहर आया हूँ, सो मानो अभी दीक्षित हुआ हूँ।''

''वास्तव में प्रत्येक श्रमण स्वयं को दोषों से मुक्त करके जिस क्षण निर्विकल्प अवस्था में आता है वही दीक्षा है। दीक्षा के वर्ष गिनने मात्र क्या होगा? मैं चिरदीक्षित हूँ, ज्येष्ठ हूँ, यह अहंकार व्यर्थ है। आत्म-शोधन ही दीक्षा की उपलब्धि है। उसे निरन्तर बनाए रखना ही सच्चा पुरुषार्थ है। सच्ची साधना है।'' बात सभी के समझ में आ गई और मैं यह सुनकर सोचती रही कि चारित्रहीन ज्ञान के इस युग में आत्मानुभूति से भरा और चारित्रवान् पुरुष के द्वारा दिया गया यह ज्ञान पाने वाले, तुम अवश्य ही भाग्यशाली हो।

ऐसी ही एक घटना और हुई, जब किसी श्रावक ने आचार्य महाराज को हाथ का सहारा लेकर विश्राम करते देखा तो यह सोचकर कि इस तरह लेटने से वृद्धावस्था में महाराज को कष्ट होता होगा, एक लकड़ी का फलक बनवाकर सिरहाने रख दिया। दूसरे दिन सुबह जैसे ही वह श्रावक आए, महाराज जी ने मुस्कुराकर कहा कि ''देखो, यह जो लकड़ी का टुकड़ा आपने रखा है वह जरा कठोर है, इस पर मुलायम मखमल लगाना ठीक होगा।'' बात सीधे-सादे ढंग से कही गई थी, पर मार्मिक और शिथिलता का पोषण करने वालों के प्रति प्रच्छन्न व्यंग के रूप में दिशाबोध देने वाली थी।

तुम्हारे मन में उसी दिन से यह बात मानो दृढ़-प्रतिज्ञा बनकर बैठ गई कि जीवनभर यथाशक्ति शिथिलताओं से बचते रहना है, सो आज भी तुम निरन्तर अपनी मुनिचर्या में निर्दोष-भाव से विचरण करते हो।

अपने गुरु के साथ धर्मोपदेश देते हुए

आचार्य महाराज ने कठिन से कठिन धर्मग्रन्थों को तुम्हारे हाथों में सौंपकर बड़ी सहजता से पढ़ाया। हिन्दी, संस्कृत और प्रकृत भाषा सीखने के साथ-साथ धर्म, दर्शन व अध्यात्म की गहराई में जाकर जीवन को पावन बनाने की कला भी हासिल करते जाना, तुम्हारी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल था। ग्रन्थ पढ़ा देने के बाद महाराज जी तुमसे प्रश्न पूछा करते थे, चिन्तन-मनन की प्रेरणा देते थे और कहते थे कि सब याद करते जाना, बार-बार अभ्यास करना, ज्ञान में प्रौढ़ता धीरे-धीरे आएगी। जब कभी समय मिलता था तो अपने सामने वे तुमसे धर्मोपदेश भी कराते थे।

असल में, आचार्य महाराज तुम्हें ज्ञान के उस धरातल पर लाकर खड़ा कर देना चाहते थे जहाँ से तुम स्वयं आत्मा की अनन्त ऊँचाई और अतल गहराई का अहसास कर सको। सहज ही उस आनन्द को पा सको, जो वैराग्य के साथ अर्जित किए गए ज्ञान से स्वतःस्फूर्त होता है।

अपनी आत्मा को अत्यन्त निकट से जानना स्वाध्याय कहलाता है। जिसमें वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश सभी कुछ समाहित है। अपने आत्म-परिणामों को पढ़ना, अपने से पूछना यानी खुद-ब-खुद मुखातिब होना, आत्म-चिन्तन और आत्म-स्मरण करते रहना तथा समय-समय पर स्वयं को सही सलाह और समझाइश देते रहना, यह स्वाध्याय की सही उपलब्धि है।

तुम स्वाध्याय की ऐसी ही सम्यक् प्रक्रिया से गुजरकर आत्म-ज्ञान पाते रहे और गुरु का वरदहस्त तुम्हें आत्म-शान्ति पाने में सहायक बना रहा।

चातुर्मास में कुछ दिन तुम्हारे श्रीचरणों में बिताकर मैं घर लौट जाती थी। पर घर आकर भी लगता था कि जैसे अपने घर से लौट आई हूँ। निज-घर पाने की लालसा तुम्हारे समीप रहने से दिनोंदिन प्रगाढ़ होती गई। मन ही मन संकल्प कर लिया कि जल्दी ही गृहस्थी के दायित्व को पूरा करके अपने आत्म-कल्याण का दायित्व भी पूरा करूँगी। प्रतिवर्ष कम से कम एकबार तुम्हारे दर्शन-वंदन के लिए परिवारजनों को साथ लेकर अवश्य आया करूँगी, ताकि आत्म-बोध निरन्तर बना रहे।

जब एक बार दर्शन के लिए पहुँची तो देखा कि आचार्य महाराज एक और मुनिदीक्षा दे चुके हैं। सुनने में आया कि इस दौरान महाराज ने सारी दीक्षा-विधि तुम्हें अपने समीप बिठाकर समझाई है। प्रायश्चित-ग्रन्थ भी नितान्त एकान्त में समझाए हैं। मैं जान गई कि यह सब तुम्हारे ऊपर आने वाले किसी विशिष्ट दायित्व की पूर्व भूमिका है। ❑

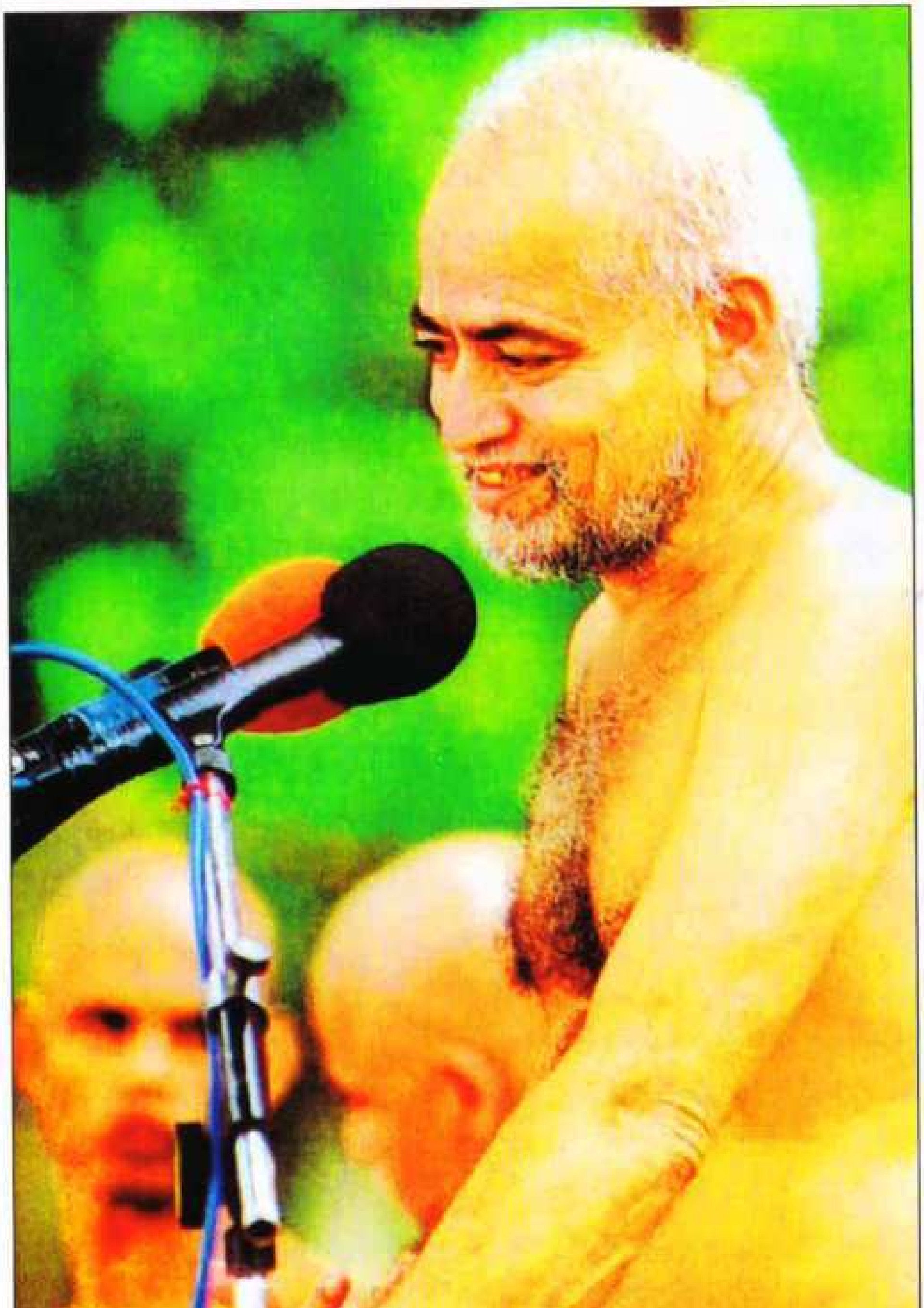

निर्मल वाणी के धनी

समय बीतता गया। यह सन् उन्नीस सौ बहत्तर की बात है, जब एक दिन तुम्हें अपने अत्यन्त समीप बिठाकर आचार्य महाराज ने शान्त-भाव से कहा कि "मेरी आयु का अन्त निकट है, मैं अपना आचार्य-पद तुम्हें देकर इस दायित्व से मुक्त होना चाहता हूँ।" इतने बड़े दायित्व की बात सुनकर तुम चकित हुए। तुमने सोचा भी नहीं था कि अपने गुरु के रहते हुए यह दायित्व तुम्हें सँभालना होगा। सो तत्क्षण अपना माथा आचार्य महाराज के श्रीचरणों में रखकर तुमने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। अत्यन्त विनत भाव से इतना ही कहा कि "इन चरणों की छाया में रहूँ, मुझे यह जो आपका सहारा है उसे बना रहने दें। मैं आचार्य-पद के योग्य नहीं हूँ।"

तुम्हारे इस आत्मनिवेदन को सुनकर आचार्य महाराज क्षण भर को सोच में पड़ गए। पद के प्रति तुम्हारी निर्लिप्तता वे जानते थे और यह भी यह जानते थे कि तुम आसानी से इस दायित्व को ग्रहण नहीं करोगे। यही विशेषता तो तुम्हें इस श्रेष्ठ पद के योग्य साबित करती है।

आचार्य महाराज ने कुछ सोचकर पुनः कहा कि "देखो अंतिम समय आचार्य को अपने पद से मुक्त होकर, अन्य किसी संघ की शरण में, सल्लेखनापूर्वक देह का परित्याग करना चाहिए। यही संयम की उपलब्धि है और यही आगम की आज्ञा भी है। अब मैं इतना समर्थ नहीं हूँ कि अन्यत्र किसी योग्य आचार्य की शरण में पहुँच सकूँ, सो मेरे आत्म-कल्याण में तुम सहायक बनो और आचार्य-पद सँभालकर मेरी सल्लेखना कराओ। यही मेरी भावना है।"

इतना सब सुनकर भी तुमने स्वीकृति नहीं दी, तब आखिरी बात उन्होंने कह दी कि "आज मैं तुमसे गुरु-दक्षिणा माँगता हूँ विद्यासागर, और गुरु दक्षिणा में यही चाहता हूँ कि तुम सहर्ष आचार्य-पद का गुरुतर दायित्व सँभाल लो।" अब तुम निरुपाय हो गए। अपने गुरु के प्रति अगाध स्नेह और समर्पण की मानो यह परीक्षा थी। ये अत्यन्त संवेदनशील और निर्णायक क्षण थे। गुरु-दक्षिणा देना अनिवार्य था। यही शिष्यत्व की पहचान थी। सो पूरे आत्म-विश्वास और आत्म-समर्पण के साथ तुमने अपना माथा

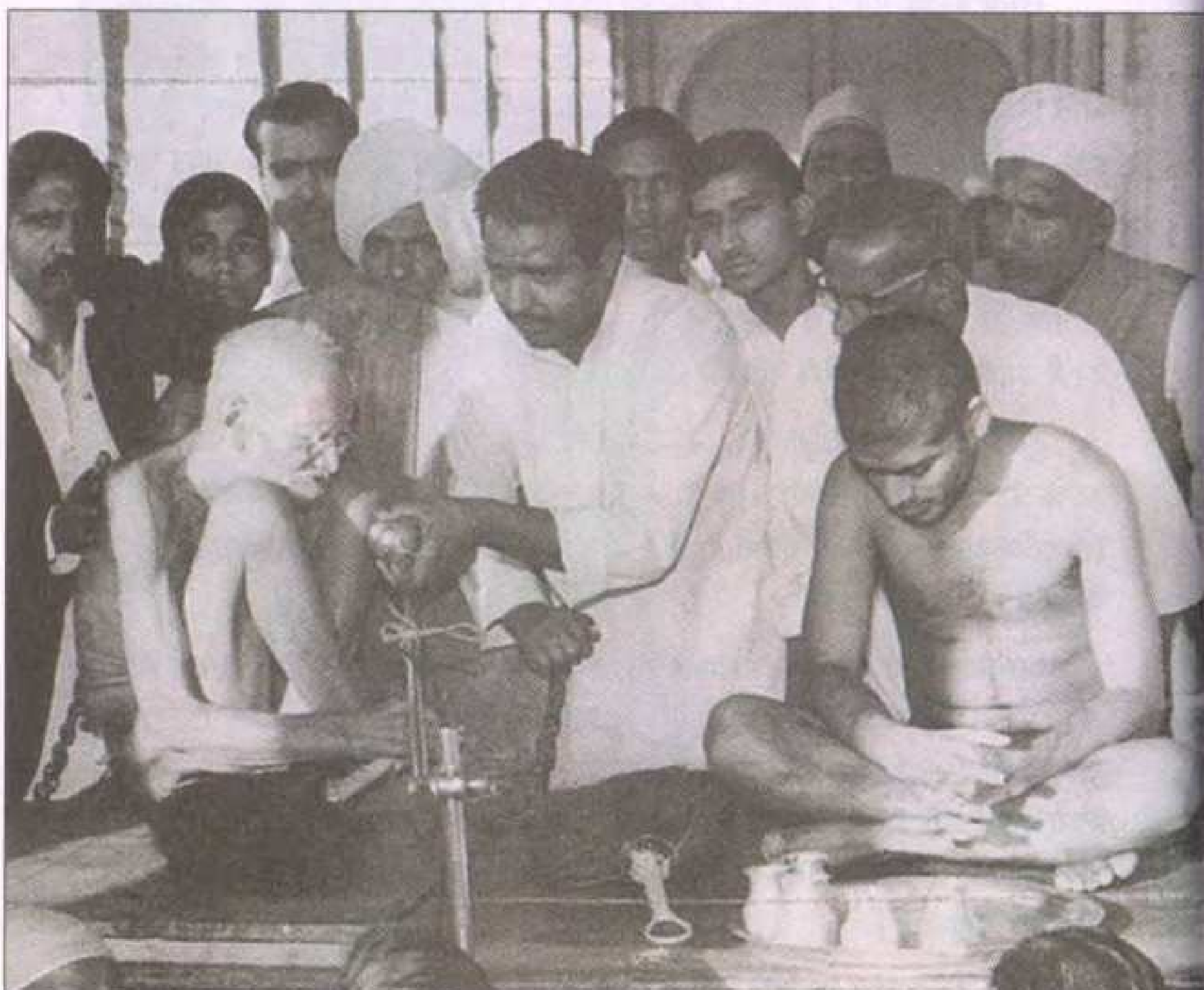

आचार्य-पद प्राप्ति के पावन क्षण

आचार्य महाराज के श्रीचरणों में रख दिया और पाया कि गुरु का वरदहस्त तुम्हें आश्वस्त और अभीत होने के लिए कह रहा है।

तुम्हारे आत्म-समर्पण को देखकर आचार्य महाराज हर्ष-मिश्रित और विगलित स्वरों में बोले कि "विद्यासागर ! तुम निश्चित होओ। मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ रहेगा। मैंने तुम्हें वह सब दिया है जो मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक के लिए आवश्यक है। तुम्हें अब कहीं कुछ और सीखने नहीं जाना है। आपने आत्म-स्वरूप में निरन्तर विचरण करते रहना और निःसंग रहकर भी श्रमणसंघ को गुरुकुल बनाना। जो मोक्षमार्ग पर चलने के लिए समर्पित भाव से समीप आए उसे शरण देना और स्वयं अनासक्त रहकर अपने आचरण में तत्पर रहना।"

आचार्य महाराज के द्वारा तुम्हें आचार्य-पद प्रदान करने की खबर सब ओर फैलने लगी। लोग उत्सुकता से उस पावन क्षण की प्रतीक्षा करने लगे। नसीराबाद की माटी को इस आयोजन का सौभाग्य मिल गया। आचार्य महाराज ने समस्त संघ की उपस्थिति में तुम्हें आचार्य-पीठिका पर बिठाकर आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित करने और स्वयं उस पद से मुक्त होने की सारी विधि सहज ही सम्पन्न कर दी। जय-जयकार की ध्वनि से वातावरण गूँज उठा।

अचानक सबने देखा कि तुम्हें आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित करने वाले गुरु ज्ञानसागर जी तुम्हारे सामने बैठकर कुछ निवेदन कर रहे हैं। सब ओर सन्नाटा छा गया। अत्यन्त दृढ़ लेकिन विनम्र स्वरों में श्री ज्ञानसागर जी महाराज को सभी ने यह कहते सुना कि "हे आचार्य महाराज ! मैं अपना अन्तिम समय समीप जानकर आपके श्रीचरणों में सल्लेखना की याचना करता हूँ। आप मुझ पर अनुग्रह करें।"

यह वीतरागता की पराकाष्ठा थी। अहं के विसर्जन और समर्पण की अद्‌भुत बेला थी। अपने जिस शिष्य को आज तक हाथ पकड़कर लिखना-पढ़ना, बोलना और चलना सिखाया, आज उसे ही अपना आचार्य बना लिया। इतना ही नहीं, अपना शेष जीवन उसके सुदृढ़ हाथों में सौप दिया। जिससे सुना और जिसने देखा उसका मन भर आया। आँखें सजल हो उठीं। एकबार फिर श्रमणधर्म और श्रमणसंघ की जय-जयकार हुई। आज पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज की विनय देखते ही बनती थी। वे अपना सर्वस्व सौंपकर मानो पूर्ण-काम हो गए थे।

उन क्षणों में तुम्हारे चेहरे पर दमकता आत्म-तेज भले ही सभी ने देखा हो, पर श्रद्धा से भरी सजल आँखें कोई नहीं देख पाया। मैं जानती हूँ कि ऐसे समय में तुम्हारा मन कितना भर आया होगा। तुम अपने ही भीतर के एकान्त में समाते चले गए होगे और सोच रहे होगे कि कहीं जरा-सा अवकाश, जरा-सा जगह मिले और अपने को छिपा लूँ।

अपनी योग्यता का ऐसा सम्मान तुमने कभी नहीं चाहा। योग्यता पा लेना अपने आप में परिपूर्ण सम्मान है।

सचमुच, कंचन और कामिनी को छोड़ना जितना आसान है, यश और ख्याति की लालसा को छोड़ पाना उतना आसान नहीं है। पर इन क्षणों में तुम्हारे गुरु ने और स्वयं तुमने आत्म-निर्मलता को पाने के लिए मान-सम्मान और यश-ख्याति सभी की लालसा छोड़ दी। इस विशेषता के सामने सारे विशेषण फीके मालूम पड़ते हैं। आज मन करता है कि कहूँ, तुम विशेषणों के विशेषण हो। तुम्हें इस तरह निरन्तर ऊँचाइयाँ पाते और आगे बढ़ते देखती या सुनती हूँ तब मन ही मन खुश हो लेती हूँ। भगवान से प्रार्थना करती हूँ कि तुम जहाँ भी रहो अच्छे से रहो। तुम भले ही मुझे अपनी माँ मत कहो, पर मैं तो अभी भी तुम्हारी माँ हूँ। तुम्हारे शुभाशीष से कभी इन संबंधों के पार होने का प्रयास करूँगी। अभी तो तुम्हारे भीतर प्रकट हुए आचार्यत्व को प्रणाम करती हूँ।

देख रही हूँ कि अभी तक तुम निश्चिंत थे। गुरु का हाथ तुम्हें थामे था। अब जिम्मेदारी तुम्हारी है। अपने ही श्रीगुरु को सँभालना है। मोह भाव से मुक्त होकर उनके आत्म-कल्याण में सहभागी बनना है। तुम इस दायित्व को समझ रहे हो। श्रमण होने के नाते आत्म-साधना और समत्व के प्रति तुम पहले ही सजग थे। अब आचार्यत्व की गरिमा के अनुरूप सजगता और बढ़ गई है। पहले अपने गुरु का हाथ थामकर तुम चलते थे, अब तुम्हारा हाथ थामकर गुरु महाराज चलते हैं। बाहर से तो पूर्ववत हाथ में हाथ दिखाई देता है, लेकिन अंतस् चेतना की गहराई में हुए परिवर्तन के तुम स्वयं साक्षी हो।

मोक्षमार्ग पर एक अकेले चलना फिर भी आसान है, लेकिन स्वयं चलते हुए दूसरे के लिए चलने में सहयोगी बनना एकदम आसान नहीं है। सुबह से शाम और बहुत रात होने तक तुम अपने गुरु की सेवा में अथक लगे रहते थे। तुम्हारे सारे आवश्यक उनकी सेवा में समा गए। मानो गुरु की सेवा ही आवश्यक हो गयी थी। उन्हें सहारा देकर आहार व निहार के लिए ले जाना और हाथ बढ़ाते ही उन्हें थाम लेना, इसमें तुम जरा भी आलस नहीं करते थे।

गुरु महाराज भी सजग थे। अपने परिणामों की सँभाल स्वयं करते और तुम्हारे द्वारा दिये जाने वाले सम्बोधन को ध्यान से सुनते थे। जब कभी जाने-अनजाने तुम ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते चूक जाते, तो वे इशारा कर देते थे कि ठीक पढ़ो। उनकी इस सजगता और स्वभाव की ओर दृष्टि देखकर तुम आश्वस्त हो जाते थे। सल्लेखना में यह आत्म-जागरूकता अनिवार्य है।

इस तरह सल्लेखना अबाध रूप से चलती रही। एक दिन वह भी आया जब सल्लेखना की साधना पूरी हुई। जीवन भर आत्मस्थ रहने वाले पूज्य ज्ञानसागर जी

अपने गुरु की सेवा में लीन

मानो गुरु की सेवा ही आवश्यक हो गयी

महाराज समाधिस्थ हो गए। सल्लेखना के दिनों में तुमने जितनी निष्ठा और लगन के साथ अपने गुरु की सेवा की, उसे देखकर लोगों ने कहा कि अपने पिता से लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति पाने वाला बेटा भी इतनी सेवा नहीं कर सकता, जितनी तुमने अपने गुरु की, की है। सचमुच, मोक्षमार्ग में परस्पर एक-दूसरे साधक को सँभालना और रत्नत्रय में स्थित रहकर आत्म-विशुद्धि बढ़ाते रहना, यही सम्यक्त्व से समन्वित साधक की पहचान है। फिर तुम तो उस समाधि-साधना के निर्यापक आचार्य थे।

मैं प्रतिवर्ष तुम्हारे चरणों में आती रही और देखती रही कि किस तरह एक साधक अपनी निर्दोष आत्म-साधना के द्वारा स्व-पर कल्याण में तत्पर रहता है। साधना निर्दोष न हो तो बाह्य प्रभावना भले ही संभव है, लेकिन आन्तरिक उपलब्धि संभव नहीं है। तुम निर्दोष चर्या के द्वारा धीरे-धीरे एक प्रभावक आचार्य के रूप में विख्यात होने लगे। तुम्हारे हृदय-पटल पर गुरु महाराज का बोध-वाक्य अंकित रहा कि ''निर्दोष साधना के द्वारा अप्रभावना से बचते रहना ही सच्ची प्रभावना है।'' ❑

समाधिस्थ मुनि श्री मल्लिसागर जी
(पिता मल्लप्पा जी)

समाधिस्थ आर्यिका श्री समयमति जी
(माँ श्रीमती जी)

प्रारम्भिक दिनों में तुम्हारा छत्तीस-छत्तीस घण्टे तक एक ही आसन में अडिग रहकर आत्म-चिन्तन में खोए रहना, ठण्ड के दिनों में नदी के किनारे रेत पर रात गुजारना और बिना खबर दिये ही अनजाने रास्ते पर विहार कर देना, लोगों को बड़ा असुविधाजनक लगा, पर धीरे-धीरे लोग समझ गए कि परीषह-विजयी वीतरागी साधु इसी तरह अतिथि भाव से मोक्षमार्ग पर विचरण करते हुए अपने मोह का क्षय करते हैं। सच्ची साधुता यही है।

बस ! अब और क्या लिखूँ। यहीं विराम लेती हूँ। तुम्हारे चरणों में अपने दोनों छोटे बेटे अनन्तनाथ और शान्तिनाथ को सौंपकर मैं परिवार के दायित्व से मुक्त हो गई। दोनों बेटियों ने भी आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। बड़ा बेटा महावीर सद्गृहस्थ बन गया। तुम्हारे पिता और मैं, हम दोनों ने तुम्हारे मार्गदर्शन और आशीर्वाद से आचार्य धर्मसागर जी महाराज के चरणों में क्रमशः मुनि-दीक्षा और आर्यिका-दीक्षा ग्रहण कर ली है।

जानती हूँ कि मोक्षमार्ग समस्त सांसारिक सम्बन्धों से परे है, पर सम्बन्धों की निर्मलता भी मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में सहायक हो जाती है। सो इसी बहाने, जो जैसा जितना मेरी स्मृति में संचित था उसे मैंने अभिव्यक्त कर दिया। तुम्हारे जैसे बेटे को पाकर मैं धन्य हो गई हूँ। अपनी माँ के अनन्त प्रणाम स्वीकार करो और उसे आशीर्वाद दो कि वह भी इस संसार से पार होने के मार्ग पर हमेशा अग्रसर होती रहे। ❑

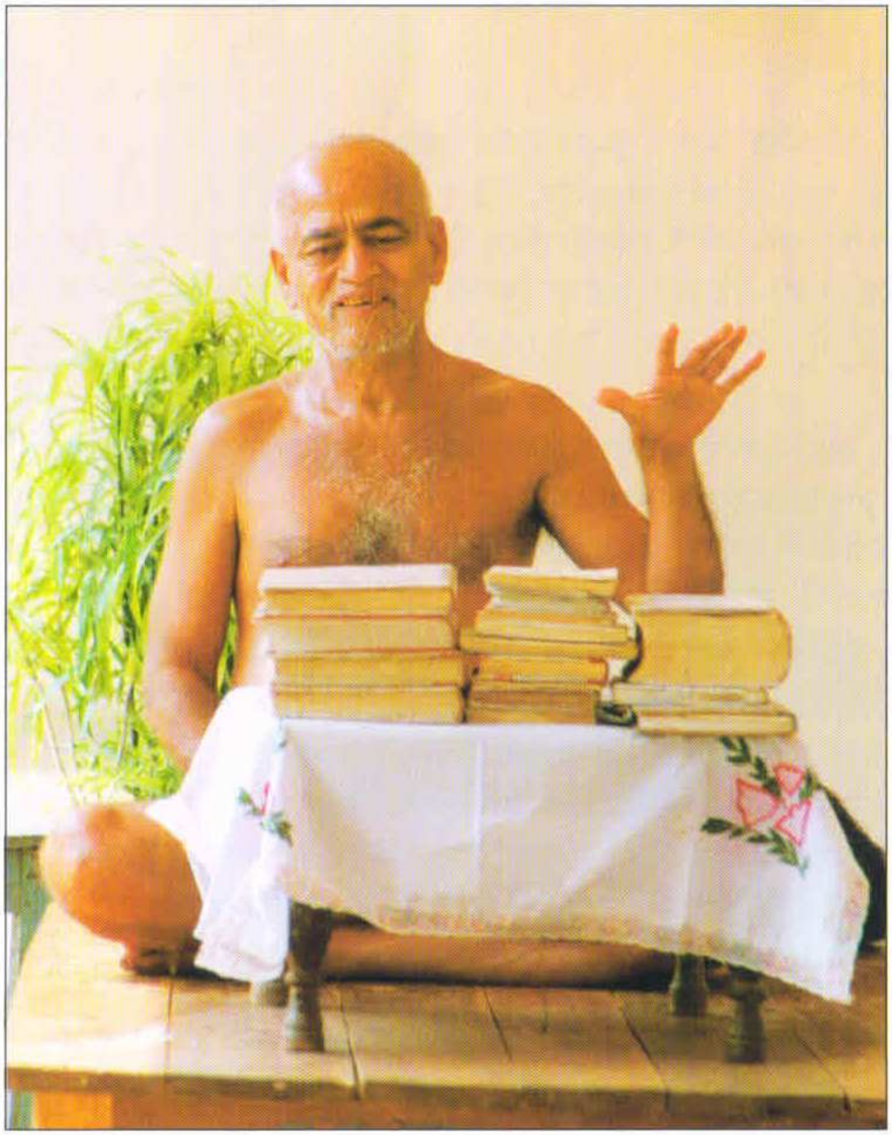

आत्मान्वेषी : आचार्य श्री विद्यासागर जी

❐ प्रेरक–प्रसंग

समर्पण

''दीप उनका
रोशनी उनकी
मैं जल रहा हूँ

रास्ते उनके
सहारा भी उन्हीं का
मैं चल रहा हूँ

प्राण उनके
हर साँस उनकी
मैं जी रहा हूँ''

अतिथि

आचार्य महाराज उन दिनों फिरोजाबाद में थे। उनके प्रतिदिन होने वाले प्रवचनों की सूचना लोगों को दे दी जाती थी और विषय भी बता दिया जाता था। एक दिन आयोजकों ने सूचना-पटल पर लिखा कि कल महाराज के प्रवचन 'अतिथि' से सम्बन्धित विषय पर होंगे। दूसरे दिन जब प्रवचन के समय लोग सभा-भवन में पहुँचे तब मालूम पड़ा कि महाराज का तो विहार हो गया।

सभी लोग अपने-अपने वाहनों से उनके पीछे भागे। दो-तीन मील जाकर जब महाराज से मिले तो सभी ने कहा कि महाराज आपका तो आज 'अतिथि' पर प्रवचन होना था, आपने अचानक विहार कर दिया। महाराज जी हँसने लगे, बोले – "भैया ! वही तो कर रहा हूँ। अतिथि का अर्थ ही यह होता है कि जिसके आने व जाने की तिथि निश्चित नहीं होती।"

लोग समझ गये कि आज तो अतिथि की तरह स्वयं आचरण करके महाराज ने हमें उपदेश दिया है कि जो कुछ कहो, उसे चरितार्थ भी करो। स्वयं जी कर कहना ही सच्चा उपदेश है।

फिरोजाबाद (1975)

निर्भयता

बुन्देलखंड में आचार्य महाराज का यह पहला चातुर्मास था। एक दिन रात्रि के अँधेरे में कहीं से बिच्छू आ गया और उसने एक बहिन को काट लिया। पंडित जगन्मोहनलाल जी वहीं थे। उन्होंने उस बहिन की पीड़ा देखकर सोचा कि बिस्तर बिछाकर लिटा दूँ, सो जैसे ही बिस्तर खोला उसमें से एक सर्प निकल आया। उसे जैसे-तैसे भगाया गया।

दूसरे दिन पंडित जी ने आचार्य महाराज को सारी घटना सुनाई और कहा कि महाराज ! यहाँ तो चातुर्मास में आपको पड़ी बाधा आएगी। पंडित जी की बात सुनकर आचार्य महाराज हँसने लगे। बड़ी उन्मुक्त हँसी होती है महाराज की। हँसकर बोले कि "पंडित जी, यहाँ हमारे समीप भी कल दो-तीन सर्प खेल रहे थे। यह तो जंगल है। जीव-जन्तु तो जंगल में ही रहते हैं। इससे चातुर्मास में क्या बाधा ? वास्तव में, हमें जंगल में ही रहना चाहिए और सदा परीषह सहन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। कर्म-निर्जरा परीषह-जय से ही होती है।"

उपसर्ग और परीषह को जीतने के लिए इतनी निर्भयता व तत्परता ही साधुता की सच्ची निशानी है।

कुण्डलपुर (1976)

प्रकृति-प्रेम

मैंने सुना है, कुण्डलपुर के चातुर्मास में जब बारिस रुक जाती थी तब आचार्य महाराज मन्दिर के बाहर खुले आकाश के नीचे शिला-तल पर बैठ जाते थे। एक दिन आचार्य महाराज जब शिला-तल पर बैठ रहे थे तब श्रावक ने झट से लाकर चटाई बिछा दी।

आचार्य महाराज ने देख लिया और मुस्कराकर बोले कि "जिन्हें वस्त्र गन्दे होने का डर है, ये चटाई तो उनके लिए है। हमारे तो वस्त्र हैं नहीं, इसलिए हमें तो कोई डर नहीं है।" सभी लोग महाराज के इस मनोविनोद पर हँसने लगे और प्रकृति के बीच उनके प्रकृतिस्थ/आत्मस्थ रहने की बात सोचकर सभी का मन गद्‌गद हो गया। प्रकृति में प्रकृति की तरह निश्छल और निस्पृह होकर विचरण करना एक साधु की सच्ची उपलब्धि है।

कुण्डलपुर (1976)

प्रथम–दर्शन

मैं उस दिन पहली बार आचार्य महाराज के दर्शन करने कुण्डलपुर गया था। आचार्य महाराज छोटे से कमरे में बैठे थे। इतना बड़ा व्यक्तित्व इतने छोटे से स्थान में समा गया, इस बात ने मुझे चकित ही किया। उनके ठीक पीछे खुली हुई एक बड़ी सी खिड़की और उससे झाँकता आकाश उस दिन पहली बार बहुत अच्छा लगा। खिड़की से आती रोशनी में दमकती आचार्य–महाराज की निरावरित देह से निरन्तर झरते वीतराग–सौन्दर्य ने मेरा मन मोह लिया।

क्षण भर के लिए मैं वीतरागता के आकर्षण में खो गया और कमरे के बाहर ही ठिठका खड़ा रह गया। फिर लगा कि भीतर जाना चाहिए। दर्शन तो भीतर से ही संभव है। बाहर से दर्शन नहीं हो पाता, पर भीतर पहुँचना आसान भी नहीं था। दरवाजे पर तो भीड़ बहुत थी ही पर मैं स्वयं भी तो भीड़ से घिरा था। यह सोचकर कि कभी संभव हुआ तो एकाकी होकर आऊँगा, मैं वापस लौट आया। कहने को तो उस दिन मैं वापस लौट आया, लेकिन सचमुच मैं आज तक लौट नहीं पाया। अब तो यही चाहता हूँ कि जीवन भर उन श्रीचरणों में बना रहूँ, वहाँ से कभी दूर न होऊँ। उनके दर्शन करके मुझे वीतरागता के जीवन्त सौन्दर्य की जो अनुभूति हुई है वह सदा बनी रहे, यही मेरे प्रथम दर्शन की उपलब्धि है।

कुण्डलपुर (1976)

निर्दोष-चर्या

आचार्य-महाराज आहार-चर्या के लिए निकले थे। चलते-चलते निमिष-मात्र में मानो उन्होंने सारे परिवेश को देख लिया और धीमे, सधे हुए कदमों से, वे आगे बढ़ रहे थे। मैं उनकी इस सहज सजगता को देखकर चकित था। सब ओर से एक ही आवाज आ रही थी कि, ''भो स्वामिन ! यहाँ पधारें, यहीं ठहरें। आहार-जल शुद्ध है।'' सोच रहा था कि यह श्रद्धा और प्रेम से दी जाने वाली भिक्षा अनूठी है। देने वाला अपना सर्वस्व देने के लिए उत्सुक है, पर पाने वाला इतना निश्चिन्त है कि पाने योग्य जो है, वह उसके पास हमेशा से है। उसे अन्यत्र कहीं और कुछ और नहीं पाना है। मात्र इस देह के निर्वाह और तप की वृद्धि के लिए जो मिलना है वह मिलेगा, उसे मिलाना नहीं है। प्रासुक आहार की मात्र गवेषणा है, आतुरता नहीं है।

देखते-देखते एक अतिथि की तरह, घर के द्वार पर द्वारापेक्षण के लिए खड़े श्रावकों के समीप, उनका ठहर जाना और आनन्द-विभोर होकर लोगों का उन्हें श्रद्धा भक्ति से प्रतिग्रहण कर भीतर ले जाना, उच्च स्थान पर बिठाना, पाद-प्रक्षालन करके चरणोदक सिर-माथे चढ़ाना, पूजा करना और मन, वचन, काय तथा आहार-जल की शुद्धि कहकर उन्हें विश्वस्त करना; झुककर नमोस्तु निवेदित करके आहार-जल ग्रहण करने की प्रार्थना करना; यह सब इतने सहज व्यवस्थित ढंग से होता रहा कि मैं मंत्र-मुग्ध सा एक ओर खड़े-खड़े देखता ही रह गया।

सुना था कि आहार में वे रस बहुत कम लेते हैं। सो देख रहा था कि ऐसा कौन-सा रस उनके भीतर झर रहा है, जो बाहर के रस को गैरजरूरी किए दे रहा है। एक गहरी आत्म-तृप्ति जो उनके चेहरे पर बरस रही है वही भीतरी-रस की खबर दे रही थी और मैं जान गया कि रस सब भीतर है। ये भ्रम है कि रस बाहर है। तभी तो बाहर से लवण का त्याग होते हुए भी उनका लावण्य अद्भुत है। मधुर रस से विरक्त होते हुए भी उनमें असीम माधुर्य है। देह के दीप में तेल (स्नेह) न पहुँचने पर भी उनमें आत्मस्नेह की ज्योति अमंद है। सारे फल छोड़ देने के बाद भी हम सभी लोगों के लिए, वे सचमुच, बहुत फलदायी हो गए हैं।

उनकी सन्तुलित आहार-चर्या देखकर लगा कि शरीर के प्रति उनके मन में कोई गहन अनुराग नहीं है। वे उसे मात्र सीढ़ी मानकर आत्मा की ऊँचाइयाँ छूना चाहते हैं। शरीर धर्म का साधन है। उनकी कोशिश उसे समर्थ बनाए रखकर शान्तभाव से आत्म-साधना करने की है। सोच रहा था कि शरीर को इस तरह आत्मा से अलग मानकर उसका सम्यक् उपयोग करना कितना सार्थक, किन्तु कितना दुर्लभ है।

मैंने देखा कि एक सच्चे साधक की तरह वे आहार ग्रहण के समस्त विधि-विधान का पालन सहज ही कर लेते हैं। गर्तपूरण की तरह जैसे गड्ढे को भरने के लिए किसी विशिष्ट पदार्थ का आग्रह नहीं होता, ऐसे ही शरीर की जरूरत पूरी करने के लिए किसी विशिष्ट/स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ का आग्रह उनके मन में नहीं है। अक्षम्रक्षण की तरह जैसे गाड़ी चलते समय आवाज न करे और धुरी ठीक से काम करती रहे, इसलिए कोई चिकना पदार्थ उस पर लगा दिया जाता है, ऐसे ही जीवन की यात्रा निर्बाध चलती रहे और देह ठीक काम करती रहे, इसलिए योग्य आहार वे ग्रहण करते हैं।

अग्निशमन के लिए जैसे खारा या मीठा कोई भी जल पर्याप्त है, ऐसे ही क्षुधा-तृषा की तपन को शान्त करने के लिए सरस-नीरस जो भी उपलब्ध निर्दोष आहार मिलता है, उसे शान्त भाव से वे ग्रहण कर लेते हैं। एक गाय की तरह जो बगीचे में जाकर भी विविध फूलों के सौन्दर्य या अपने लिए दाना डालने वाले के रूप-लावण्य को नहीं देखती और चुपचाप घास खाकर लौट जाती है, ऐसे ही वे भी श्रावक के बाह्य-वैभव से अप्रभावित रहकर चुपचाप पाणिपात्र में दिए गए प्रासुक आहार का शोधन करके दिन में एक बार खड़े होकर उसे ग्रहण करते हैं। यह गोचरी वृत्ति है।

आहार पूरा होने पर लोगों का आनंदित होना और जय-जयकार के बीच उनका इस सबसे निर्लिप्त रहकर मुस्कराते हुए लौटना, अनायास ही साधु की भ्रामरी वृत्ति का स्मरण करा देता है। भ्रमर जिस तरह गुनगुनाता हुआ आता है और फूल से पराग लेकर जैसे उसे हर्षित करके लौट जाता है, ऐसे ही वे आत्म-संगीत में निमग्न होकर अत्यन्त निर्लिप्त भाव से आहार ग्रहण करते हैं और श्रावक को हर्षित करके लौट आते हैं।

उनके आहार ग्रहण करके लौटने के बाद जाने कितनी देर तक मैं वहीं सिर झुकाए खड़ा रहा, जब ख्याल आया तो देखा कि वे बहुत आगे/बहुत दूर निकल गए हैं। इतने आगे कि उन तक पहुँचने के लिए मुझे पूरी जिन्दगी उनके पीछे चलना होगा।

कुण्डलपुर (1976)

रत्नाकर

मैंने देखा कि मन्दिर के प्रांगण में बैठकर आचार्य महाराज अपने सामने रखे ग्रन्थ के अबूझ/बंद रहस्यों को उद्घाटित कर रहे हैं। उनका स्वयं निर्ग्रन्थ होना और ग्रन्थ में गुम्फित रहस्यमय गुत्थियों को एक-एक कर अपने ज्ञान व आचरण से सुलझाते जाना मुझे अच्छा लगा। असल में, ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों को समझने की विनम्र कोशिश में कभी उनका अत्यन्त गम्भीर हो जाना, कभी धीरे से मुस्कराना, मन ही मन कुछ कहना और क्षण भर में फिर ग्रन्थ की अतल गहराई में खो जाना, मेरे लिए एकदम नया है। सोचता हूँ कि जैन धर्म और दर्शन का नित-नूतन और अप-टू-डेट रूप ऐसे ही विरले स्वानुभवी साधकों द्वारा संभव है।

स्वानुभूति के इन क्षणों में आचार्य महराज सागर की तरह अपार और अथाह दिखाई दे रहे थे। जैसे सागर की असीम और अतल जलराशि अनजाने ही हमें अपनी ओर आकृष्ट करती है, मानो स्वयं सागर होने का निमन्त्रण देती है; ऐसे ही आचार्य महाराज का सान्निध्य हमें स्वानुभव के महासागर में प्रवेश पाने को प्रेरित करता है।

अपने में सभी को समाकर भी जैसे सागर शान्त है, कितनी भी नदियाँ आकर उसमें समाती जाएँ, वह अपनी मयार्दा में रहता है; ऐसे ही आचार्य महाराज के चरणों में कितनी भी आत्माएँ समर्पित होती जाएँ, वे सबके बीच निर्लिप्त और शान्त हैं। सीमा में रहकर भी असीम हैं।

अपनी सतह पर पड़े हुए कचरे को जैसे सागर की लहरें उठाकर/धकेलकर किनारे पर फेंक आती हैं, ऐसे ही वे भी प्रतिक्षण सजग रहकर आने वाले समस्त विकारों को हटाकर सहज ही निर्मल हो जाते हैं।

सागर की तरह वे भी रत्नाकर हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र जैसे श्रेष्ठ रत्नों को वे अनन्त आत्म-गहराई में छिपाए हुए हैं। सागर की तरह वे बाहर मानो सतह पर क्षण भर को आहार-विहार-निहार में प्रवृत्त होते दिखाई पड़ते हैं, लेकिन भीतर कहीं गहरे में वे अत्यन्त गम्भीर हैं और अपने आत्म-स्वरूप में अकम्प हैं।

मैंने अनुभव किया कि जैसे सागर के समीप पहुँचकर किसी की प्यास नहीं बुझती, बल्कि और ज्यादा बढ़ जाती है, ऐसे ही उनका सामीप्य पाकर अपने को/अपने आत्म-आनंद को पाने की प्यास बढ़ जाती है। सचमुच, वे आत्म-विद्या के अगाध सागर हैं।

कुण्डलपुर (1976)

साधु-संगति

मैंने देखा ईर्यापथ-प्रतिक्रमण का समय होने वाला है। उनके पास हमारी तरह कलाई पर बँधी कोई घड़ी नहीं है, पर लग रहा है कि हर घड़ी उनकी है। समय की नब्ज पर उनका हाथ है। सभी शिष्यगण विनत भाव से आकर बैठते जा रहे हैं। थोड़ी देर में प्रतिक्रमण के स्पष्ट मधुर मंद स्वर गूजने लगे। सभी साधुजनों का मन आकाश में चमकते सूरज की तरह अत्यन्त उज्ज्वल और निर्मल होकर चमक उठा है। मैं भी सोच रहा हूँ कि मेरे जीवन का प्रतिक्षण इतना ही पवित्र हो सके, ताकि जीने का भरपूर आनन्द मैं भी ले सकूँ।

उन्हें प्रतिक्रमण से गुजरते और दोपहर की सामायिक में जाते देख रहा हूँ। प्रतिक्रमण, मानो सामायिक के लिए प्रवेश-द्वार है। सामायिक से पहले उन्होंने खड़े होकर पूर्व से उत्तर दिशा की ओर क्रमशः चारों दिशाओं में प्रणाम निवेदित किया है। णमोकार महामन्त्र पढ़ा है और दो बार जमीन पर बैठकर माथा टेककर नमन किया है। इस बीच अंजुलि-पुट चार बार मुकुलित हुए हैं। घड़ी की सूई के घूमने की दिशा में हाथ की अंजुलि को तीन बार घुमाकर तीन आवर्त पूरे किए गए हैं। मन-वचन-काय सब एकाकार होने को हैं। इस बीच उनके होठों पर हल्की-सी मुस्कान के साथ मंद स्वरों में 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः' उच्चरित होते सुन रहा हूँ। पद्मासन में बैठकर अब वे अपने में अविचल हैं। मैं सोच में डूबा गुमसुम-सा खड़ा रह गया हूँ। पल भर को लगा कि जैसे हम नदी के साथ-साथ/सागर की ओर गए/ नदी सागर में मिली/हम किनारे पर खड़े रह गए।

सामायिक पूरी होते-होते दोपहर ढल चुकी है। वे अब चिन्तन-मनन में लग गए हैं। सुखासीन हैं। बाहर-भीतर सब एक सार मालूम पड़ता है। उनके सब ओर उजलापन है। सुनता आया हूँ कि जब कभी कविता उनके श्रीमुख से बहती है तो हवाओं में रस भर जाता है। आज सभी के साथ मैं भी उनके श्रीमुख से कुछ सुन पाने के लिए उत्सुक हूँ। शायद मेरे मन की पुकार उन तक पहुँच गई है। तभी तो मानो मेरी ओर देखकर वे मुस्करा रहे हैं। मुस्कराना कोई उनसे सीखे। एकदम बच्चों की तरह सरल, तरल और निर्मल।

उस दिन पहली बार मैंने किसी साधु के निश्छल हृदय से झरते काव्य-रस का स्वाद लिया। छंदबद्ध होकर भी कविता को मुक्त होते देखा। तब लगा कि स्वरों में राग और

भावों में वीतराग, अद्‌भुत है आत्म-संगीत से उनका यह अनुराग। देखते-देखते वहाँ सब संगीतमय हो गया। तन-मन-प्राण सब विरक्ति के रस में भीग गए। श्रद्धा और भक्ति से विगलित सबके हृदय भर गए। यही उपलब्धि इन क्षणों की थी, जो आज भी अपने होने का एहसास कराती है। सचमुच, यह कितना सच है "एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी की हूँ आध, तुलसी संगति साधु की, हरे कोटि अपराध।"

कुण्डलपुर (1976)

अन्तर्यात्री

शाम होने को थी। मैंने उन्हें ऊपर पर्वत की ओर जाते देखा। सुना है कि वे संध्याकालीन प्रतिक्रमण के लिए पर्वत के किसी स्वच्छ शिलातल पर चले जाते हैं। आज उन्हें गहन एकान्त में प्रतिक्रमण करते देखना चाहता था, सो कुछ दूर पीछे चलकर शिलातल पर उन्हें बैठते देखकर ठहर जाता हूँ, ताकि उन्हें मेरे होने का अहसास भी बाधक न बने। मैंने देखा कि सब ओर शान्ति है। इतनी गहरी शान्ति कि दूर रहकर भी प्रतिक्रमण के धीमे-धीमे स्वरों और हृदय की धड़कन के बीच एक लयात्मकता का अहसास होता है।

इन क्षणों में उनके चेहरे पर अतिशय विनम्रता थी। वे क्षमा-भाव से भरकर प्राणी-मात्र के प्रति अनुकंपित होते दिखाई दे रहे थे। प्रतिक्रमण करते-करते वे कायोत्सर्ग में इतने लीन हो जाते थे कि मानो क्षण भर को देह के पार देहातीत शून्य में खो गए हों। इन्द्रिय और मन की गिरफ्त से बाहर निकल गए हों। अपने में ही समा गए हों।

उस दिन पहली बार संध्याकाल मुझे अपने-घर लौटने की याद दिला रहा था। गोधूलि की बेला में दिन भर की यात्रा से थका-हारा सूरज अपने घर लौटता दिखाई दिया। पक्षी अपने-अपने नीड़ में लौट रहे थे। साधक बाह्य-यात्रा से विमुख होकर अंतर्यात्रा पर वापिस लौट रहे थे। ऐसा लगा मानो सब लौट रहे हैं।

प्रतिक्रमण के उपरान्त पर्वत से नीचे उतरते आचार्य महाराज के चेहरे पर झलकती वीतरागता का आनंद देखकर मेरा जीवन धन्य हो गया। उस दिन आचार्य महाराज के श्रीचरणों में माथा झुकाकर वापिस लौटते वक्त ऐसा लगा कि एक वीतरागी महामुनि के चरणों से दूर होने की पीड़ा भी इतनी सौम्य हो सकती है कि व्यक्ति का मन एकाकी होने को आतुर हो उठता है।

कुण्डलपुर (1976)

आत्म-सूर्य

रात बहुत बीत गई थी। सभी लोगों के साथ मैं भी इन्तजार कर रहा था कि आचार्य महाराज सामायिक से उठें और हमें उनकी सेवा का अवसर मिले। कितना अद्‌भुत है जैन मुनि का जीवन कि यदि वे आत्मस्थ हो जाते हैं तो स्वयं को पा लेते हैं और आत्म-ध्यान से बाहर आते हैं तो हम उन्हें पाकर अपने आत्मस्वरूप में लीन होने का मार्ग जान लेते हैं।

उस दिन दीपक के धीमे-धीमे प्रकाश में उनके श्रीचरणों में बैठकर बहुत अपनापन महसूस हुआ, ऐसा लगा कि मानो अपने को अपने अत्यन्त निकट पा गया हूँ। उनके श्रीचरणों की मृदुता मन को भिगो रही थी। हम भले ही उनकी सेवा में तत्पर थे, पर वे इस सबसे बेभान अपने में खोये थे। अद्‌भुत लग रहा था इस तरह किसी को शरीर में रहकर भी शरीर के पार होते देखना।

दूसरे दिन सूरज बहुत सौम्य और उजला लगा। आज मुझे लौटना था। लौटने से पहले जैसे ही उनके श्री-चरणों को छुआ और उनके चेहरे पर आयी मुस्कान को देखा, तो लगा मानो उन्होंने पूछा हो कि क्या सचमुच लौट पाओगे ? मैं क्या कहता ? कुछ कहे बिना ही चुपचाप लौट आया और अनकहे ही मानो कह आया कि अब कभी, कहीं और, जा नहीं पाऊँगा। उनकी आत्मीयता पाकर मेरा हृदय ऐसा भीग गया था जैसे उगते सूरज की किरणों का मृदुल-स्पर्श पाकर धरती भीग जाती है।

कुण्डलपुर (1976)

परीषह-विजय

आचार्य महाराज का उन दिनों बुन्देलखण्ड में प्रवेश हुआ था। उनकी निर्दोष मुनि-चर्या और अध्यात्म का सुलझा हुआ ज्ञान देखकर सभी प्रभावित हुए। कटनी में आए कुछ ही दिन हुए थे कि महाराज को तीव्र ज्वर हो गया। पं. जगन्मोहनलाल जी की देखरेख में उपचार होने लगा। सतना में आकर नीरज जी भी सेवा में संलग्न थे। एक दिन मच्छरों की बहुलता देखकर पंडित जी ने रात्रि के समय महाराज के चारों ओर पूरे कमरे में मच्छरदानी लगवा दी।

सुबह जब महाराज ने मौन खोला तो कहा कि यह सब क्या किया ? पंडित जी ने तो पहले ही सोच लिया था, सो बोले कि ''महाराज ! आप तो शरीर के प्रति निर्मोही हो, उपचार भी नहीं करने देते। पर क्या करें, ज्वर के कीटाणुओं से आपका शरीर इतना विषाक्त हो गया है कि आपको काटने वाले मच्छरों को पीड़ा होती है। उन बेचारों की सुरक्षा के लिए यह उपाय करना पड़ा।''

आचार्य महाराज अस्वस्थता के बावजूद भी खूब हँसे। कहने लगे कि ''पंडित जी! संसारी प्राणी अपने शरीर के प्रति अनुरागवश ऐसे ही तर्क देकर उसकी सुरक्षा में लगा है और निरन्तर दुखी है। मोक्षार्थी के लिए ऐसी शिथिलता से बचना चाहिए और परीषह-जय के लिए तत्पर रहना चाहिए। कर्म-निर्जरा तभी संभव होगी।'' पंडित जी क्या कहते? विनत भाव से आगम के अनुरूप आचरण करने वाले, परीषह-विजयी, शिथिलताओं से दूर और कर्म-निर्जरा में तत्पर आचार्य महाराज के चरणों में झुक गए और सदा के लिए उनके भक्त हो गए।

कटनी (1976)

अन्तर्बोध

उस दिन शाम का समय था। आचार्य महाराज मन्दिर के बाहर खुली दालान में विराजे थे। थोड़ी देर तत्त्व-चर्चा होती रही। उस पवित्र और शान्त वातावरण में आचार्य महाराज का सामीप्य पाकर हम सभी बहुत खुश थे। फिर सामायिक का समय हो गया। आचार्य महाराज वहाँ से उठकर भीतर मन्दिर में चले गए। बाहर किसी ने मुझसे कहा कि भीतर की बिजली जला आओ। आचार्यश्री ने यह बात सुन ली। मैंने जैसे ही भीतर कदम रखा कि भीतर से वे बोल उठे - ''हाँ भाई, भीतर की बिजली जला लो।''

उनका आशय आन्तरिक आत्म-ज्योति के प्रकाश से था। मैं अवाक् खड़ा रह गया। उनके द्वारा कही गई वह बात बोध-वाक्य बन गई, जो हमें आज भी आत्म-ज्योति जलाए रखने के लिए निरन्तर प्रेरित करती है।

कुण्डलपुर (1977)

वीतरागता

मैंने सुना है एक दिन आचार्य महाराज रोज की तरह स्वाध्याय में लीन थे। लोग दर्शन करने आ-जा रहे थे, सभी चावल चढ़ाते जा रहे थे। इतने में अचानक सभी को चावल चढ़ाते देखकर एक बच्चे ने अपने हाथ में रखी हुई चाकलेट चढ़ा दी। बच्चे के भोलेपन पर सभी हँसने लगे। बात आई-गई हो गई। इस घटना के स्मरण से आज भी मन उद्वेलित हो उठता है। यदि हम भी ऐसे वीतरागी गुरु को पाकर बच्चों के समान सरलता व सहजता से संसार में प्रिय मालूम पड़ने वाली वस्तुओं का त्याग करने के लिए तत्पर हो जाएँ तो मुक्ति के मार्ग पर चलना कठिन कहाँ है ?

नैनागिरि (1978)

पावन-संदेश

वर्षाकाल चल रहा था। हम लोग आचार्य महाराज के दर्शन करने पहुँचे थे। दोपहर में हमेशा की तरह आचार्य महाराज के प्रवचन हुए। प्रवचन के बाद पार्श्वनाथ मन्दिर के प्रवेश-द्वार से बाहर निकलते समय सभी ने देखा कि दीवार के सहारे एक छिद्र में दो सर्प बैठे हैं। आचार्य महाराज की भी नजर पड़ गई। वे क्षणभर वहाँ ठहर गए और बोले - ''सर्पराज ! शान्त भाव से निर्द्वन्द्व होकर विचरण करो। पूर्व में किए किसी अशुभ कर्मों के उदय से यह पर्याय मिली है। इसका सदुपयोग करो। अपना आत्म-कल्याण करो। किसी का अहित न हो, इस बात का खयाल रखो।'' यह उनकी अत्यन्त प्रेम-पगी वाणी थी। मानो यह पावन संदेश था।

दिन बीतते रहे। कई बार लोगों ने प्रवचन के समय उन सर्पों को बैठे देखा। किसी का अहित उन सर्पों के द्वारा नहीं हुआ। यह सब देखकर मेरा विश्वास दृढ़ हो गया कि सचमुच, इसी तरह तीर्थंकर की समवसरण सभा में सभी प्राणी आते होंगे और अपनी-अपनी भाषा में धर्म की बात समझकर आत्महित में लग जाते होंगे। यह नैनागिरि क्षेत्र भी पार्श्वनाथ भगवान की समवसरण स्थली रहा है जो आज आचार्य महाराज के उपदेशों से अनुप्राणित होकर प्राणीमात्र के कल्याण में सहायक हो रहा है।

नैनागिरि (1978)

अभय-दान

चातुर्मास स्थापना का समय समीप आ गया था। सभी की भावना थी कि इस बार आचार्य महाराज नैनागिरि में ही वर्षाकाल व्यतीत करें। वैसे नैनागिरि के आसपास डाकुओं का भय बना रहता था, पर लोगों को विश्वास था कि आचार्य महाराज के रहने से सब काम निर्भयता से सानन्द सम्पन्न होंगे। सभी की भावना साकार हुई। चातुर्मास की स्थापना हो गई।

एक दिन हमेशा की तरह जब आचार्य महाराज आहार-चर्या से लौटकर पर्वत की ओर जा रहे थे तब रास्ते में समीप के जंगल से निकलकर चार डाकू उनके पीछे-पीछे पर्वत की ओर बढ़ने लगे। सभी के मुख वस्त्रों से ढके थे, हाथ में बन्दूकें थीं। लोगों को थोड़ा भय लगा, पर आचार्य महाराज सहजभाव से आगे बढ़ते गए। मन्दिर में पहुँचकर दर्शन के उपरान्त सभी लोग बैठ गए। आचार्य महाराज के मुख पर बिखरी मुस्कान और सब ओर फैली निर्भयता व आत्मीयता देखकर डाकुओं का दल चकित हुआ। सभी ने बन्दूकें उतारकर एक ओर रख दीं और आचार्य महाराज की शान्त मुद्रा के समक्ष नतमस्तक हो गए।

आचार्य महाराज ने आशीष देते हुए कहा कि "निर्भय होओ और सभी लोगों को निर्भय करो। हम यहाँ चार माह रहेंगे, चाहो तो सचाई के मार्ग पर चल सकते हो।" वे सब सुनते रहे, फिर झुककर विनत भाव से प्रणाम करके धीरे-धीरे लौट गए।

फिर लोगों को नैनागिरि आने में जरा भी भय नहीं लगा। वहाँ किसी के साथ कोई दुर्घटना भी नहीं हुई। आचार्य महाराज की छाया में सभी को अभय-दान मिला।

नैनागिरि (1978)

सच्चा-रास्ता

चातुर्मास में जयपुर से कुछ लोग आचार्य महाराज के दर्शन करने नैनागिरि आ रहे थे। वे रास्ता भूल गए और नैनागिरि के समीप दूसरे रास्ते पर मुड़ गए। थोड़ी दूर जाकर उन्हें अहसास हुआ कि वे भटक गए हैं। इस बीच चार बंदूकधारी लोगों ने उन्हें घेर लिया। गाड़ी में बैठे सभी यात्री घबरा गए। एक यात्री ने थोड़ा साहस करके कहा कि "भैया, हम जयपुर से आए हैं। आचार्य विद्यासागर महाराज के दर्शन करने जा रहे हैं, रास्ता भटक गए हैं, आप हमारी मदद करें।" उन चारों ने एक दूसरे की ओर देखा और उनमें से एक रास्ता बताने के लिए गाड़ी में बैठ गया।

नैनागिरि के जल मन्दिर के समीप पहुँचते ही वह व्यक्ति गाड़ी से उतरा और इससे पहले कि कोई कुछ पूछे, वह वहाँ से जा चुका था। जब यात्रियों ने सारी घटना सुनाई तो लोग दंग रह गए। सभी को वह घटना याद आ गई, जब चार डाकुओं ने आचार्य महाराज से उपदेश पाया था। उस दिन स्वयं सही राह पाकर आज इन भटके हुए यात्रियों के लिए सही रास्ता दिखाकर मानो उन डाकुओं ने उस अमृत-वाणी का प्रभाव रेखांकित कर दिया।

नैनागिरि (1978)

सजगता

अचानक खबर मिली कि आचार्य महाराज अत्यधिक अस्वस्थ हैं। तीव्र ज्वर है। तमाम बाह्य-उपचार के बावजूद भी लाभ नहीं हो पा रहा। सुनकर मन बेचैन हो उठा। तुरन्त ही उनके समीप पहुँचने का निश्चय कर लिया। जीवन भर व्यक्ति अपने ऊपर आने वाली सैकड़ों आपदाएँ सहन कर लेता है, पर किसी रोज जब उसे यह मालूम पड़ता है कि वे चरण पीड़ा से गुजर रहे हैं जिन चरणों में उसने स्वयं को समर्पित किया है, तब वह पीड़ा असह्य हो जाती है। स्वयं को सँभालना मुश्किल हो जाता है। जैसे-तैसे अपने को सँभालकर रात्रि के अँधेरे में उन तक पहुँचने के लिए यात्रा प्रारम्भ कर दी।

रात के सन्नाटे में नैनागिरि के उस सुनसान जंगल से गुजरते वक्त जरा भी भय नहीं लगा। एक समय था जब इस जंगल में दस्यु-दल के आतंक की छाया डोलती थी और आदमी दिन के उजाले में भी इस ओर यात्रा करने से डरता था। आज सब ओर अभय की स्वच्छ, शीतल और पवित्र चाँदनी फैली हुई है। यह सब उनकी चरण-रज का प्रताप है।

वहाँ पहुँचकर जब समीप जाकर उन्हें देखा तो लगा मात्र उनकी देह ही रुग्ण है, वे तो आत्मस्थ हैं, स्वस्थ हैं। सेवा में लगे लोगों ने बताया - अभी कुछ देर पहले ज्वर की असह्य पीड़ा से जकड़ी उनकी देह को सहारा देकर उठाते वक्त उनकी सजगता देखते ही बनती थी। करवट बदलने से पहले उन्होंने बड़ी तत्परता के साथ पिच्छिका से स्थान परिमार्जित किया और पुनः लेट गए। मैं जितनी देर उनके समीप रहा यही सोचता रहा कि ऐसी शारीरिक पीड़ा के बावजूद भी इतनी आत्म-जाग्रति कैसे रह पाती है ?

इसी बीच यह भी मालूम पड़ा कि कल वेदना की तीव्रता इतनी रही कि रोग असाध्य मानकर आचार्य महाराज ने बहुत संयत और शान्त भाव से अपने सभी शिष्यों को बुलाकर अपना आचार्य-पद त्याग करने और सल्लेखना लेने की बात सामने रखी। सभी शिष्य चकित और हतप्रभ हो गए। आँखों में आँसू भरे, सिर झुकाए सब एक ओर हाथ जोड़े खड़े रह गए। सब इस सोच में डूब गए कि जाने अब क्या होगा ? उन क्षणों में आचार्य महाराज की पद के प्रति अलिप्तता और आत्म-कल्याण के लिए स्तुत्य सजगता उनकी उत्कृष्ट साधना का परिचय दे रही थी।

धीरे-धीरे रात बीत गई। सभी ने सुबह उगते सूरज के साथ-साथ उन्हें भी बाहर रोशनी में आते देखा। मैंने चाहा कि आगे बढ़कर उन्हें थाम लूँ, पर उनकी मुस्कान में झलकते आत्म-बल के सामने मैं स्वयं ही थम गया। वे देह के विकार को विसर्जित करने जंगल की ओर जा रहे थे। मैं उनके पीछे कमंडलु लिए चलते-चलते सोचता रहा कि क्या कभी ऐसे ही अपने अंतस् के तमाम विकारों को विसर्जित करके आत्म-शुद्धि के लिए मैं भी प्रयत्न कर पाऊँगा। क्या जगत् की सारी माया-ममता को त्याग कर ऐसे ही कभी मैं भी वीतरागी हो पाऊँगा ? जो भी हो पर उनका सहारा पाकर लग रहा है कि सब संभव है। जंगल से वापिस आते ही मैंने उनके श्री-चरणों में अपना माथा रखा और स्वयं को समर्पित कर दिया।

आज उनकी अस्वस्थता का यह तीसरा दिन था। ज्वर की वेदना और अन्तराय कर्म की प्रबलता के कारण पिछले दो दिन निराहार ही बीत गए। इन दिनों पीड़ा के जिस दौर से वे गुजरे हैं उसे देख/सुनकर सभी लोग चिन्तित थे। सैकड़ों लोग मन्दिर के बाहर प्रांगण में बैठकर णमोकार-मंत्र का स्मरण कर रहे थे। आहार-चर्या से पूर्व शुद्धि कराने के लिए कुछ लोगों ने उन्हें सहारा देना चाहा, पर वे अकेले ही शुद्धि के लिए आगे बढ़ गए। मुझे लगा कि सचमुच, आत्म-शुद्धि के लिए ऐसे ही एकाकी होना होगा। हमें स्वयं ही अपने आत्म-शोधन की तैयारी करनी होगी।

अगले ही क्षण जैसे ही उन्होंने आहार-चर्या के लिए मन्दिर के बाहर पहला पग रखा, मैंने देखा सभी का मन भर गया। देह रुग्ण होने के बावजूद भी उनका मुस्कुराते हुए आगे बढ़ना, चौके में पहुँचना, और नवधा-भक्ति पूरी होने पर पाणिपात्र में शान्त भाव से आहार ग्रहण करना - सभी कुछ सहजता से हुआ, पर लोग साँस थामे, अपलक खड़े देखते रहे और णमोकार जपते रहे। उन संवेदनशील क्षणों में हम सभी ने यह महसूस किया कि हमारा मनुष्य जन्म सार्थक हो गया है। आचार्य महाराज के खड्ग-धार पर चलने के समान कठिन मुनि-मार्ग पर चलते कदम हमें जीवन भर सचाई के रास्ते पर चलने का साहस दे रहे थे।

नैनागिरि (1978)

निर्ग्रन्थ

आचार्य महाराज अपने संघ सहित द्रोणगिरि में विराजे थे। बड़ी मनोरम जगह है। सिद्ध क्षेत्र है। पर्वत पर प्राचीन जिनालय हैं। नीचे तलहटी में व्रतीआश्रम व चौबीसी मन्दिर है। वर्णीजी ने कभी इसे 'छोटा सम्मेद-शिखर' कहा था। आचार्य महाराज सहित सारा संघ पर्वत पर ही आत्म-साधना में लीन रहता था। आहार-चर्या के लिए नीचे आना और चर्या के उपरान्त वापिस पर्वत पर लौट जाना, रोज का क्रम था। आचार्य महाराज ने यहाँ रहकर प्रतिदिन तपती दोपहरी में तीन-तीन घंटे शिलातल पर सूर्य की प्रखर किरणों के नीचे बैठकर ध्यान किया और सारे संघ को साधना के साथ-साथ अध्यात्म की शिक्षा भी दी।

उन दिनों संघ में आचार्य महाराज के शिष्यों में हम सभी ऐलक क्षुल्लक ही थे। अभी मुनि-दीक्षा किसी को नहीं मिली थी। एक दिन सुबह अचानक मालूम पड़ा कि ऐलक श्री समयसागर जी केशलुंचन कर रहे हैं। हम सब सोच में पड़ गए कि बात क्या है ? अभी केशलुंचन करके दो माह भी पूरे नहीं हुए। पर अगले ही क्षण हम निश्चिन्त होकर अपने ध्यान-अध्ययन में लग गए और सोचा कि जो भी होगा सामने आएगा। असल में, आचार्य महाराज के साथ यही तो मजा है कि भविष्य में क्या होगा, इस चिन्ता से मुक्त रहकर वर्तमान में जीने की शिक्षा मिलती है। तब जो भी होता है, सुखद होता है।

लगभग नौ बजे अत्यन्त सादगी से, बिना किसी आडम्बर व प्रदर्शन के, आचार्यश्री के द्वारा प्रथम मुनि-दीक्षा सम्पन्न हुई। हम सभी ने आचार्य महाराज द्वारा दीक्षित प्रथम निर्ग्रन्थ श्रमण मुनि समयसागर जी की चरण वन्दना की और अत्यन्त आत्म-विभोर हो उठे। इतने में आचार्य महाराज स्वयं आकर हमारे बीच खड़े हो गए और बोले, "क्या बात है? सभी बहुत खुश हो।" हमने कहा कि "आज बहुत अच्छा लग रहा है। निर्ग्रन्थ होना अत्यन्त आनन्द की बात है।" वे मुस्कराकर बोले, "आत्म-विकास के लिए यही उत्साह कल्याणकारी है।" हम सभी उनकी इस आश्वस्ति और प्रसाद से अभिभूत हो गए।

आज जब कभी यह घटना याद आती है तो सोचता हूँ कि दूसरे जीवों के हित का मुख्य रूप से प्रतिपादन करने वाले, आर्य पुरुषों के द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्य ऐसे ही होते होंगे। वर्षों पूर्व पूज्यपाद स्वामी के मन में ऐसे ही आचार्य की छवि बनी होगी, तभी तो उन्होंने लिखा होगा -

'परहित-प्रतिपादनैक-कार्यमार्य-निषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्।'

द्रोणगिरि (मार्च, 1980)

उपाधि

सागर में आचार्य महाराज के सान्निध्य में पहली बार षट्खंडागम वाचना-शिविर आयोजित हुआ। सभी ने खूब रुचि ली। लगभग सभी वयोवृद्ध और मर्मज्ञ विद्वान् आए। जिन महान ग्रन्थों को आज तक दूर से ही माथा झुकाकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी, उन पवित्र ग्रन्थों को छूने, देखने, पढ़ने और सुनने का सौभाग्य सभी को मिला। यह जीवन की अपूर्व उपलब्धि थी।

वाचना की समापन बेला में सभी विद्वानों के परामर्श से नगर के प्रतिष्ठित एवं प्रबुद्ध नागरिकों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने आचार्य महाराज के श्री-चरणों में निवेदन किया कि समूचे समाज की भावनाओं को देखते हुए आप 'चारित्र-चक्रवर्ती' पद को ग्रहण करके हमें अनुगृहीत करें। सभी लोगों ने करतल ध्वनि के साथ अपना हर्ष व्यक्त किया। आचार्य महाराज मौन रहे। कोई प्रतिक्रिया तत्काल व्यक्त नहीं की।

थोड़ी देर बाद आचार्य महाराज का प्रवचन प्रारम्भ हुआ और प्रवचन के अन्त में उन्होंने कहा कि "पद-पद पर बहुपद मिलते हैं, पर वे दुख-पद आस्पद हैं। प्रेय यही बस एक निजी-पद, सकल गुणों का आस्पद है।" - आप सभी मुझे मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ने दें और इन सभी पदों से मुक्त रखें। आप सभी के लिए मेरा यही आदेश, उपदेश और संदेश है।

सभा में सन्नाटा छा गया। सभी की आँखें पद के प्रति आचार्य महाराज की निस्पृहता देखकर हर्ष व विस्मय से भीग गईं।

सागर (अप्रैल, 1980)

निर्मलता

सागर के वर्णी भवन, मोराजी में आचार्य महाराज के सान्निध्य में ग्रीष्मकालीन वाचना चल रही थी। गर्मी पूरे जोर पर थी। नौ बजे तक इतनी कड़ी धूप हो जाती थी कि सड़क पर निकलना और नंगे पैर चलना मुश्किल हो जाता था। आहार-चर्या का यही समय था। आचार्य महाराज आहार-चर्या के लिए प्रायः मोराजी भवन से बाहर निकलकर शहर में चले जाते थे। मोराजी भवन में ठहरना बहुत कम हो पाता था। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य का निवास मोराजी भवन में ही था और वे पड़गाहन के लिए रोज खड़े होते थे। उनके यहाँ आहार का अवसर कभी-कभी आ पाता था।

एक दिन जैसे ही दोपहर की सामायिक से पहले ईर्यापथ प्रतिक्रमण पूरा हुआ, पं. जी, आचार्य महाराज के चरणों में पहुँच गए और अत्यन्त सरलता और विनय से सहज ही कह दिया कि "महाराज अब ततूरी (कड़ी धूप से जमीन गर्म होना) बहुत होने लगी है, आप आहार चर्या के लिए दूर मत जाया करें।" सभी लोग आपका आशय समझ गए। आचार्य महाराज भी यह सुनते ही हँसने लगे। आज भी इस घटना की स्मृति से मन आचार्य महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा से झुक जाता है। उनके आचरण की निर्मलता और अगाध ज्ञान का ही यह प्रतिफल है कि विद्वान जन उनका सामीप्य पाने के लिए आतुर रहते हैं।

सागर (1980)

असीम-वात्सल्य

सारा संघ मुक्तागिरि की ओर जा रहा था। सुबह का समय था। सभी ने सोचा कि समीपस्थ मोर्सी ग्राम तक विहार होगा, सो आसानी से चलकर नौ-दस बजे तक पहुँच जाएँगे। जब दस बजे हम मोर्सी गाँव पहुँचे तो मालूम पड़ा आचार्य महाराज लगभग आधा घण्टे पहले यहाँ से आगे निकल गए हैं।

सचमुच, आचार्य महाराज अतिथि हैं। कब/कहाँ पहुँचेंगे, कहा नहीं जा सकता। उनका यह अनियत विहार कठिन भले ही है, लेकिन बड़ा स्वाश्रित है। विहार की बात पहले से कह देने में दो मुश्किलें खड़ी हो जाती हैं। यदि किसी कारण निर्धारित समय पर विहार नहीं कर पाए तो झूठ का दोष लगा और जब तक विहार नहीं किया तब तक विहार का विकल्प बना रहा। इससे अच्छा यही है कि क्षण भर में निर्णय लिया और हवा की तरह निःसंग होकर निकल पड़े। आगे क्या होगा इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। यही तो निर्द्वन्द्व साधना है।

हम सभी आचार्य महाराज का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ने लगे। गंतव्य दूर था। सामायिक से पहले पहुँचना संभव नहीं था, सो रास्ते में ही एक संतरे के बगीचे में सामायिक के लिए ठहर गए। सामायिक करके हम लोग लगभग ढाई-तीन बजे अपने गन्तव्य पर पहुँचे। आचार्य महाराज के चरणों में प्रणाम किया। वे हमारी स्थिति से अवगत थे, सो अत्यन्त स्नेह से बोले - ''थक गए होगे, थोड़ा विश्राम कर लो, अभी आहार-चर्या के लिए सभी एक साथ उठेंगे।''

हम समझ गए कि आचार्य महाराज स्वयं समय से आ जाने पर भी आहार-चर्या के लिए हम सब के आने की प्रतीक्षा करते रहे। उनके इस असीम वात्सल्य का हम पर गहरा प्रभाव हुआ, जो आज भी है।

मुक्तागिरि (1980)

समाधान

उन दिनों आगम व अध्यात्म ग्रन्थों का अवलोकन चल रहा था। आचार्य महाराज जो/जैसा, समझाते/बताते थे, उसे ग्रहण करने की कोशिश रहती थी, पर कई प्रश्न जानकारी के अभाव में अनसुलझे ही रह जाते थे। एक दिन साहस करके कुछ प्रश्नों का समाधान पाने की इच्छा से हम उनके चरणों में पहुँचे। आचार्य महाराज स्वाध्याय व लेखन में लगे थे। हम प्रणाम निवेदित करके समीप ही एक ओर बैठ गए।

अचानक हमें लगा कि सारे प्रश्नों का उत्तर हमें आता है। व्यर्थ ही आचार्य महाराज का समय क्यों लिया जाए। सो हम पुनः नमोस्तु करके आने लगे। आचार्य महाराज ने दृष्टि उठाकर हमें देखा तो लगा जैसे कह रहे हों कि क्या बात है, कुछ पूछना था ? हम क्या कहते। श्रद्धा से विगलित, भरे कंठ से कहा कि जो प्रश्न थे वे अनायास ही आपका सामीप्य पाकर समाधान बन गए हैं। जीवन के हर समाधान आपके दर्शन से हम पाते रहें, ऐसा आशीष दें। वे मुस्कराकर अपने अध्ययन में लीन हो गए। जिनकी वीतराग-चितवन अनकहे ही हर प्रश्न का समाधान कर देती है, ऐसे आचार्य महाराज धन्य हैं।

आज जब और लोगों को भी उनके श्री-चरणों में समाधान पाते देखता हूँ तो पूज्यपाद स्वामी की पंक्तियाँ याद आती हैं –

''मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम्।''

मुक्तागिरि (सितम्बर, 1980)

मुक्ति

वर्षाकाल पूरा होने को था। दीपावली की पूर्व संध्या में आचार्य महाराज ध्यानस्थ हुए तो सारी रात निश्चल ध्यान में बैठे-बैठे ही बीत गई। महावीर स्वामी के परिनिर्वाण की प्रत्यूष बेला में उन्होंने आँखें खोलीं और क्षण भर हम सभी की ओर देखकर कहा कि "भगवान तो वर्षों पहले मुक्त हो गए, हम भी ऐसे ही कभी मुक्त होंगे, पर जाने कब होंगे ?"

उस क्षण उनकी दिगन्त में झाँकती आँखें, मुखमण्डल पर छायी अपार शान्ति और गद्‌गद कंठ से झरती यह अमृत वाणी देख-सुनकर हम सभी अवाक् रह गए। एक क्षण को लगा, मानो वे सचमुच संसार के आल-जाल से मुक्त होकर आत्म-आनन्द में डूब गए हैं। मुक्ति पाने की इतनी गहरी प्यास उन्हें शीघ्र ही संसार के आवागमन से मुक्त करेगी।

मुक्तागिरि (नवम्बर, 1980)

श्रेष्ठ-साधना

मुक्तागिरि का चातुर्मास पूर्ण हुआ। संघ-सहित आचार्य महाराज ने रामटेक की ओर विहार किया। रास्ते में एक दिन अम्बाड़ा गाँव पहुँचते-पहुँचते अँधेरा घिर गया। सारा संघ गाँव के समीप एक खेत में ठहर गया। खेत में ज्वार के डंठलों से बना एक स्थान था। रात्रि विश्राम यहीं करेंगे, ऐसा सोचकर सभी ने प्रतिक्रमण किया और सामायिक में बैठ गए।

दिसम्बर के दिन थे। ठंड बढ़ने लगी। रात में नौ बजे जब श्रावकों को मालूम पड़ा कि आचार्य महाराज खेत में ठहरे हैं तो बेचारे सभी वहाँ खोजते-खोजते पहुँचे। जो बनी सो सेवा की। स्थान एकदम खुला था, नीचे बिछे डंठल कठोर थे। इन सबके बावजूद भी आचार्य महाराज अपने आसन पर अडिग रहे। किसी भी तरह से प्रतिकार के लिए उत्सुकता प्रकट नहीं की। लगभग आधी रात गुजर गई। फिर दिन भर के थके शरीर को विश्राम देने के लिए वे एक करवट से लेट गए। उनके लेटने के बाद ही सारा संघ विश्राम करेगा, ऐसा नियम हम सभी संघस्थ साधुओं ने स्वतः बना लिया था, सो उनके उपरान्त हम सभी लोग लेट गए।

ठंड बढ़ती देखकर कुछ श्रावकों ने समीप में रखे सूखे ज्वार के डंठल सभी के ऊपर डाल दिए। सब चुपचाप देखते रहे, किसी ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। लोग यह सोचकर निश्चिन्त हो गए कि अब ठंड कम लगेगी, पर ठंड तो उतनी ही रही, डंठल का बोझ और चुभन अवश्य बढ़ गई।

उपसर्ग व परीषह के बीच शान्त-भाव से आत्म-ध्यान में लीन रहना ही सच्ची साधुता है, सो सभी साधुजन चुपचाप सब सहते रहे। सुबह हुई। लोग आए। डंठल अलग किए। हमारे मन में आया कि श्रावकों को उनकी इस अज्ञानता से अवगत कराना चाहिए, पर आचार्य महाराज की स्नेहिल व निर्विकार मुस्कुराहट देखकर हमने कुछ नहीं कहा। मार्ग में आगे कुछ दूर विहार करने के बाद आचार्य महाराज बोले कि "देखो, कल सारी रात कैसा कर्म-निर्जरा करने का अवसर मिला, ऐसे अवसर का लाभ उठाना चाहिए।" हम सभी यह सुनकर दंग रह गए। मन ही मन अत्यन्त श्रद्धा और विनय से भरकर उनके चरणों में झुक गए। आज कर्म-निर्जरा के लिए तत्पर ऐसे रत्नत्रयधारी साधक का चरण सान्निध्य पाना दुर्लभ ही है। अम्बाड़ा (1980)

आत्मीयता

शीतकाल में सारा संघ अतिशय क्षेत्र बीना-बारहा (देवरी) में साधनारत रहा। आचार्य महाराज के निर्देशानुसार सभी ने खुली दालान में रहकर मूलाचार व समयसार का एक साथ चिन्तन-मनन व अभ्यास किया। आत्म-साधना खूब हुई। जनवरी के अन्तिम सप्ताह में कोनीजी अतिशय क्षेत्र पर आना हुआ।

कोनी जी पहुँचकर दो-तीन दिन ही हुए कि मुझे व्याधि ने घेर लिया। पीड़ा असह्य थी, पर वेदना के दौरान मेरे एकमात्र सहारे आचार्य महाराज थे, सो वेदना के क्षणों में उनकी ओर देखकर अपने को सँभाल लेता था। एक दिन दोपहर का समय था, वे मूलाचार का स्वाध्याय कराने जाने वाले थे। मेरी पीड़ा देखकर थोड़ा ठहर गए और बोले - "तुमने समयसार पढ़ा है, उसे याद करो। आत्मा की शक्ति अनन्त है, इस बात को मत भूलो। देखो, व्याधि तो शरीराश्रित है, अपनी आत्मा में जाग्रत व स्वस्थ रहो। मूलाचार का स्वाध्याय करके हम अभी आते हैं।"

एक अकिंचन शिष्य के प्रति उनका इतना सहज और आत्मीय-भाव देखकर मेरा मन भीग गया। आँखें भर आयीं। शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल ऐसे धर्माचार्य बारम्बार वंदनीय हैं।

कोनी जी (1982)

सच्चा अनुग्रह

नैनागिरि में आचार्य महाराज के तीसरे चातुर्मास की स्थापना से पूर्व की बात है। सारा संघ जल-मन्दिर में ठहरा हुआ था। वर्षा अभी शुरू नहीं हुई थी। गर्मी बहुत थी। एक दिन जल-मन्दिर के बाहर रात्रि के अंतिम प्रहर में सामायिक के समय एक जहरीले कीड़े ने मुझे दंश लिया। बहुत वेदना हुई। सामायिक ठीक से नहीं कर सका। आचार्य महाराज समीप ही थे और शान्त भाव से सब देख रहे थे। जैसे-तैसे सुबह हुई। वेदना कम हो गई। हमने आचार्य महाराज के चरणों में निवेदित किया कि वेदना अधिक होने से समता भाव नहीं रह पाया, सामायिक ठीक नहीं हुई।

उन्होंने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा कि "साधु को तो परीषह और उपसर्ग आने पर उसे शान्त भाव से सहना चाहिए, तभी तो कर्म-निर्जरा होगी। आवश्यकों में कमी करना भी ठीक नहीं है। समता रखना चाहिए। जाओ, रस परित्याग करना। यही प्रायश्चित्त है।" सभी को आश्चर्य हुआ कि पीड़ा के बावजूद भी इतने करुणावंत आचार्य महाराज ने प्रायश्चित्त दे दिया।

वास्तव में, अपने शिष्य को परीषह-जय सिखाना, शिथिलाचार से दूर रहने की शिक्षा देना और आत्मानुशासित बनाना; यही आचार्य की सच्ची करुणा व सच्चा अनुग्रह है।

नैनागिरि (1982)

सच्चा अनुग्रह

नैनागिरि में आचार्य महाराज के तीसरे चातुर्मास की स्थापना से पूर्व की बात है। सारा संघ जल-मन्दिर में ठहरा हुआ था। वर्षा अभी शुरू नहीं हुई थी। गर्मी बहुत थी। एक दिन जल-मन्दिर के बाहर रात्रि के अंतिम प्रहर में सामायिक के समय एक जहरीले कीड़े ने मुझे दंश लिया। बहुत वेदना हुई। सामायिक ठीक से नहीं कर सका। आचार्य महाराज समीप ही थे और शान्त भाव से सब देख रहे थे। जैसे-तैसे सुबह हुई। वेदना कम हो गई। हमने आचार्य महाराज के चरणों में निवेदित किया कि वेदना अधिक होने से समता भाव नहीं रह पाया, सामायिक ठीक नहीं हुई।

उन्होंने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा कि "साधु को तो परीषह और उपसर्ग आने पर उसे शान्त भाव से सहना चाहिए, तभी तो कर्म-निर्जरा होगी। आवश्यकों में कमी करना भी ठीक नहीं है। समता रखना चाहिए। जाओ, रस परित्याग करना। यही प्रायश्चित्त है।" सभी को आश्चर्य हुआ कि पीड़ा के बावजूद भी इतने करुणावंत आचार्य महाराज ने प्रायश्चित्त दे दिया।

वास्तव में, अपने शिष्य को परीषह-जय सिखाना, शिथिलाचार से दूर रहने की शिक्षा देना और आत्मानुशासित बनाना; यही आचार्य की सच्ची करुणा व सच्चा अनुग्रह है।

नैनागिरि (1982)

कर्तव्य-बोध

चातुर्मास में पर्यूषण-पर्व से पहले हम तीन साधुओं की मुनि-दीक्षा सम्पन्न हुई। एक अत्यन्त सादगीपूर्ण समारोह में हमें दीक्षा दी गई। हमने आचार्य महाराज के द्वारा दिलाई गई सभी प्रतिज्ञाएँ दुहराईं। जीवन भर उनकी आज्ञा-पालन करने का नियम लिया। दीक्षा लेकर हम उनके पीछे-पीछे पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में पहुँचे। जैसे ही हमने उनके चरणों में माथा टेका, उन्होंने अत्यन्त हर्षित होकर हमें आशीष दिया और बड़े गम्भीर स्वरों में बोले कि "देखो, आज जिनेन्द्र भगवान के दिगम्बर/निर्ग्रन्थ-लिंग को तुमने अंगीकार किया है। अब इस जिन-लिंग के साथ-साथ अपने अंतरंग परिणामों की सँभाल करना तुम्हारा परम कर्तव्य है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ।"

आचार्य महाराज का यह कर्तृत्व-मुक्त व्यवहार देखकर हम क्षण भर को दंग रह गए। कर्तृत्वभाव से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना, यही अध्यात्म की कुंजी है। अध्यात्म पोथियों या परिभाषाओं तक सीमित नहीं है। आज भी आचार्य महाराज जैसे साधक अध्यात्म को अपने जीवन में प्रतिक्षण जीते हैं।

नैनागिरि (1982)

आत्मानुशासन

मुनि दीक्षा के लगभग दो माह बाद ही मैं व्याधिग्रस्त हो गया। आहार में मुश्किल होने लगी। आहार लेते ही वमन हो जाता था। तब आचार्य महाराज स्वयं आहार-चर्या के समय उपस्थित रहते थे। दूर खड़े रहकर भी उनकी अनुकम्पा निरन्तर बरसती रहती थी। एक दिन आहार प्रारम्भ होते ही अंजुली में बाल का संदेह हुआ। सभी ने एक स्वर में कह दिया, बाल नहीं है। शायद अस्वस्थता देखकर लोगों ने झूठ बोला था। मैंने उन संवेदनशील निर्णायक क्षणों में जैसे ही समीप में खड़े आचार्य महाराज की ओर देखा तो वे तत्काल दूसरी ओर देखने लगे।

मुझे लगा, मानो वे कह रहे हों कि ''तुम महाव्रती हो। एषणा-समिति तुम्हारा मूलगुण है, निर्णय तुम स्वयं लो। अयाचक सिंह-वृत्ति रखो।''

मुझे निर्णय क्या लेना था, बाल था, सो मैं अन्तराय मानकर बैठ गया। वे मुस्कराये और खूब आशीर्वाद देकर चले गए। पूरा दिन अस्वस्थता के बावजूद भी शान्ति से बीता।

आत्मीयता के साथ-साथ आत्मानुशासन की शिक्षा देकर आचार्य महाराज ने हम पर असीम उपकार किया।

नैनागिरि (1982)

स्थितिकरण

चातुर्मास का समय था। इस बार अध्ययन, चिन्तन, मनन के साथ-साथ चार सल्लेखनाएँ निकट से देखने और अपने जीवन में उनसे शिक्षा लेने का अवसर भी सारे संघ को मिला। बड़ी सजगता और सावधानी का काम था। सल्लेखना, साधक की अंतिम परीक्षा है। भावों की सँभाल करना और निर्मलता बनाए रखना आसान नहीं है। पूर्वोपार्जित पुण्य, वर्तमान-पुरुषार्थ एवं बाह्य योग्य संयोग सभी के ठीक-ठीक मिलने पर ही ऐसे कार्य सम्पन्न होते हैं।

सल्लेखना ग्रहण करने वाले एक साधक के मन में त्याग करने के बाद भी एक दिन आहार के समय सेवफल ग्रहण करने का भाव आ गया। आचार्य महाराज ने सारी बात समझकर निर्देश दे दिया कि, इच्छा हो तो दे दो। सेवफल दिया गया, पर शरीर की अशक्तता के कारण थोड़ा-सा ही लिया गया, शेष नीचे गिर गया। साधक का मन इससे बड़ा व्यथित हुआ और आत्म-ग्लानि से भर गया।

उन्होंने आचार्य महाराज के पास पहुँचकर अत्यन्त विनम्रता से आलोचना की और जीवनपर्यन्त सभी चीजों का त्याग कर दिया। फिर अंत तक उनका मन शान्त व निर्मल बना रहा। उनकी अंतिम साँस महामन्त्रोच्चार के साथ निकली। आचार्य महाराज की कृपा और कुशल निर्देशन से उनके भीतर सच्ची विरक्ति उत्पन्न हुई। वे पुनः अपने आप में स्थिर हो गए। आचार्य-महाराज के व्यक्तित्व में समाए श्रेष्ठ निर्यापकत्व गुण को देखकर हम सब श्रद्धावनत हो गए।

नैनागिरि (1982)

त्याग की महत्ता

ठंड के दिन थे। दिन ढलने से पहले आचार्य महाराज संघ-सहित वण्डा ग्राम पहुँचे। रात्रि-विश्राम के लिए मन्दिर के ऊपर एक कमरे में सारा संघ ठहरा। कमरे का छप्पर लगभग टूटा था। खिड़कियाँ भी खूब थीं और दरवाजा काँच के अभाव से खुला न खुला बराबर ही था। जैसे-जैसे रात अधिक हुई, ठंड भी बढ़ गई। सभी साधुओं के पास मात्र एक-एक चटाई थी। घास किसी ने ली नहीं थी। सारी रात बैठे-बैठे ही गुजर गई। सुबह हुई, आचार्य-वंदना के बाद आचार्य महाराज ने मुस्कुराते हुए पूछा कि रात में ठंड ज्यादा थी, मन में क्या विचार आए बताओ ? हम सोच में पड़ गए कि क्या कहें, पर साहस करके तत्काल कहा कि "महाराज जी ठंड बहुत थी, मन में विचार आ रहा था कि एक चटाई और होती तो ठीक रहता।" इतना सुनते ही उनके चेहरे पर हर्ष छा गया। बोले - "देखो, त्याग का यही महत्व है। तुम सभी के मन में शीत से बचने के लिए त्यागी हुई वस्तुओं को ग्रहण करने का विचार भी नहीं आया। मुझे तुम सबसे यही आशा थी। हमेशा त्याग के प्रति सजग रहना। त्यागी गई वस्तु के ग्रहण का भाव मन में न आए, यह सावधानी रखना।"

उनका यह उद्‌बोधन हमें जीवन भर सँभालता रहेगा।

बण्डा (1982)

निमित्त

जिनेन्द्र वर्णी ने अन्त समय में आचार्य महाराज को अपना गुरु बनाकर उनके श्रीचरणों में समाधि के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया था। सल्लेखना अभी प्रारम्भ नहीं हुई थी, इससे पहले ही एक दिन अचानक संघ सहित आचार्य महाराज बिना किसी से कुछ कहे ईसरी से नीमिया-घाट होकर पार्श्वनाथ टोंक की ओर वंदना करने के लिए निकल पड़े। सारा दिन वंदना में बीत गया, ईसरी-आश्रम आते-आते शाम हो गई।

चूँकि बिना किसी पूर्व सूचना के यह सब हुआ, इसलिए वर्णी जी दिन भर बहुत चिन्तित रहे कि पता नहीं आचार्य महाराज कब लौटेंगे। जैसे ही ईसरी-आश्रम में आचार्य महाराज लौटकर आए, वर्णी जी ने उनके चरणों में माथा रख दिया। आँखों में आँसू भर आए। अवरुद्ध कंठ से बोले कि "महाराज आप मुझे बिना बताए अकेला छोड़कर चले गए। मन बहुत घबराया। मुझे तो अब आपका ही सहारा है। मेरे जीवन के अंतिम समय में अब सब आपको ही सँभालना है।"

आचार्य महाराज क्षण भर को गम्भीर हो गए, फिर मुस्कराकर बोले कि "वर्णी जी! सल्लेखना तो आत्माश्रित है। अपने भावों की सँभाल आपको स्वयं करनी है। अपने उपादान को जाग्रत रखिए, मैं तो निमित्त मात्र हूँ।"

इस तरह अपने प्रति समर्पित हर शिष्य को सँभालना, सहारा देना, संयम के प्रति जाग्रत रहना और निरन्तर आत्म-कल्याण की शिक्षा देते रहना; परन्तु स्वयं असम्पृक्त रहना, यह उनकी विशेषता है।

ईसरी (1983)

आत्म-विश्वास

ईसरी में वर्षायोग पूरा हुआ। आचार्य महाराज ने कार्तिक पूर्णिमा के दिन कलकत्ता में प्रतिवर्ष होने वाले भगवान पार्श्वनाथ के उत्सव में पहुँचने का मन बना लिया, लेकिन हमेशा के अपने अतिथि स्वभाव के अनुरूप किसी से बिना कुछ बताये कलकत्ता की ओर चल पड़े। लोगों में तरह-तरह की चर्चाएँ होने लगीं। मार्ग दुर्गम है। मार्ग में श्रावकों के घर नहीं हैं। बड़ा अशान्त क्षेत्र है। बंगाल के लोग पता नहीं कैसा व्यवहार करेंगे। महाराज को वहाँ नहीं जाना चाहिए।

कलकत्ता में श्रावक आए। निवेदन किया कि "बंगाल सुरक्षित प्रदेश नहीं है। आप वहाँ पधारें, ऐसी हम सभी की भावना तो है लेकिन भय भी लगता है।" आचार्य महाराज हमेशा की तरह मुस्कराए, अभय-मुद्रा में हाथ उठाकर आशीष दिया और आगे बढ़ गए।

यात्रा चलती रही। निरन्तर बढ़ते कदमों से गूँजता मंगल-गान, लोगों के मन को आगामी मंगल का आश्वासन देता रहा और देखते-देखते साढ़े तीन सौ किलोमीटर की दूरी दस दिन में तय हो गई। ग्यारहवें दिन जब अपने संघ के साथ आचार्य महाराज ने कलकत्ता में प्रवेश किया तब हजारों लोग उनके दृढ़ संकल्प के सामने सिर झुकाए खड़े थे। उस दिन वह महानगर, महाव्रती दिगम्बर जैन आचार्य की चरण-धूलि पाकर धन्य हो गया।

बड़ा मन्दिर से बेलगछिया तक हजारों लोगों के बीच उनका सहज भाव से गुजरना आम आदमी के लिए अद्‌भुत घटना थी। देखने वालों ने उस दिन यही कहा कि बेशकीमती साजो-सामान, और विशाल शोभायात्रा के बीच अनेक श्रमणों में परिवेष्ठित जैनों के एक महान् आचार्य के दर्शन करके हम धन्य हो गए। उस दिन रास्ते में खड़े लोगों और घरों की खुली खिड़कियों से झाँकती हजारों आँखों ने बालकवत् यथाजात निर्ग्रन्थ श्रमण के पवित्र सौन्दर्य को देखकर और कुछ भी देखने से इन्कार कर दिया।

सचमुच, विद्या-रथ पर आरूढ़ होकर, ख्याति, पूजा, लाभ आदि समस्त मनोरथों को रोककर, जो श्रमण-भगवन्त विचरण करते हैं उनके दृढ़ संकल्प से धर्म-प्रभावना सहज ही होती रहती है।

कलकत्ता (1983)

समत्व की साधना

कलकत्ता प्रवास के उपरान्त आचार्य महाराज संघ सहित तीर्थक्षेत्र उदयगिरि-खण्डगिरि पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रुककर संबलपुर होकर रायपुर की ओर बढ़ते हुए रास्ते में एक स्थान 'अनगुल' में रुकना हुआ। स्थान एकदम अपरिचित था। जैन समाज वहाँ नहीं था। अन्य लोगों ने भी कभी जैन साधुओं को नहीं देखा था, सो सहज उत्सुकता थी। आहार-चर्या के उपरान्त हाईस्कूल के प्रांगण में ही रुकने का मन था, पर बच्चों के शोर के कारण समीप ही एक धर्मशाला में सामायिक के लिए श्रावकों ने निवेदन किया। श्रावक इस बात से भी भयभीत थे कि कहीं बच्चे उपद्रव न करें। सामायिक के उपरान्त बहुत सारी भीड़ धर्मशाला के समीप इकट्ठी हो गई। जो श्रावक साथ में थे, वे घबराए कि कहीं कोई अप्रिय घटना न हो जाए। सो सभी ने आचार्य महाराज से निवेदन किया कि ऐसे समय में आप मन्त्र आदि के माध्यम से स्थिति पर नियन्त्रण करें। मैंने भी बिना सोचे-समझे इस बात का समर्थन कर दिया। श्रावकों से आचार्य महाराज ने कुछ नहीं कहा। हमारी ओर देखकर बोले कि "अध्यात्म को भूल गए ? साधना तो समत्व की होनी चाहिए। साधु को निःप्रतिकार होना चाहिए। आत्मा की अनन्त शक्ति को पहचानो। वीतरागता के प्रभाव पर विश्वास रखो। चलो विहार करें।" और सहज, शान्त भाव से सीढ़ियाँ उतरने लगे। सारा संघ पीछे-पीछे हो गया। जैसे-जैसे आचार्य महाराज आगे बढ़ते जाते थे भीड़ एक ओर हटती जाती थी। यह देखकर सभी दंग रह गए। समत्व की साधना का अतिशय मेरे मन पर आज भी ज्यों का त्यों अंकित है और संबल देता रहता है।

अनगुल (1984)

दृढ़ संकल्प

दुर्ग में लगभग अठारह दिन आचार्य महाराज संघ सहित ठहरे। एक दिन विहार होने वाला था। महाराज जी विहार से पहले मन्दिर जी गए। लोगों को विहार का आभास हो गया। सभी लोग भागे-भागे मन्दिर में आ गए। जैसे ही महाराज जी दर्शन करके सीढ़ियाँ उतरने लगे, सभी ने उनके पैर पकड़ लिए। कुछ लोग तो सीढ़ियों पर ही लेट गए कि हम गमन नहीं करने देंगे।

समय बीतता गया, आग्रह और भीड़ निरन्तर बढ़ती गई। एक वीतरागी के प्रति लोगों का अनुराग उस दिन देखते ही बनता था, पर आचार्य महाराज उस दिन विहार के लिए दृढ़-संकल्पित थे। सो रुकना संभव नहीं था। विलम्ब हो जाने के बाद भी विहार हुआ। लोगों ने उनका अनुगमन किया। बहुत दूर तक पीछे-पीछे गए। सभी के मन में था कि कुछ दिन महाराज और रुकते तो अच्छा रहता। पर साथ ही साथ यह भी अहसास हुआ कि मोक्षमार्ग पर दृढ़ संकल्पित होकर अविचल बढ़ते रहना, सदा नदी की तरह गतिशील रहना, यही सच्चे मोक्षार्थी की पहचान है।

दुर्ग (1984)

परीक्षा

चातुर्मास स्थापना का समय था। क्षुल्लक सुमतिसागर जी की मुनि बनने की बड़ी भावना थी। साधना भी थी, पर वृद्ध हो गए थे। आचार्य महाराज ने उनकी भावना के अनुरूप उन्हें मुनि-दीक्षा दे दी। अब वे मुनि वैराग्यसागर हो गए। दो-तीन माह तक उन्होंने महाव्रतों का बड़ी सावधानी से पालन किया, जीवन का अन्त निकट जानकर और वृद्धावस्था का विचार करके आचार्य महाराज से सल्लेखना ग्रहण कर ली।

मुनि की आहार-चर्या सर्वोत्कृष्ट है। स्वस्थ व अस्वस्थ हर दशा में समता-भाव रखकर निर्दोष-विधिपूर्वक आहार ग्रहण करना आसान काम नहीं है। एक दिन विधिपूर्वक पड़गाहन के बाद जब वे जल-ग्रहण करने के लिए खड़े हुए तो अंजुलि बाँधकर जल-ग्रहण करना मुश्किल-सा लगा। जल नीचे गिर गया। आचार्य महाराज समीप ही खड़े थे। बोले, "चाहो तो गिलास से ले लो।" हम सभी यह बात सुनकर चकित हुए, पर समझ गए कि परीक्षा की घड़ी है। सल्लेखना ग्रहण करने वाले क्षपक की परीक्षा प्रतिक्षण है। अत्यन्त वृद्ध होने के बाद भी एक सच्चे महाव्रती की तरह मुनि वैराग्यसागर जी ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और शान्त भाव से अन्न-जल का जीवनपर्यन्त के लिए त्याग करके यम-सल्लेखना धारण कर ली।

आचार्य महाराज ने मुस्कराकर आशीर्वाद दिया और कहा कि सभी को इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए और परीक्षा में उत्तीर्ण होने की तैयारी जीवन भर करते रहना चाहिए।

अहारजी (1985)

परम समीप

अहार जी सिद्धक्षेत्र पर चातुर्मास के उपरान्त आचार्य महाराज संघ-सहित सिद्धक्षेत्र नैनागिरि आ गए। शीतकाल यहीं बीत गया। एक दिन अचानक दोपहर में आचार्य महाराज ने बुलाया। मुनि श्री योगसागर जी भी आए। मैं भी पहुँचा। आचार्य महाराज बोले कि "ऐसा सोचा है कि तुम दो-तीन साधु मिलकर सागर की ओर विहार करो। वहाँ स्वास्थ्य लाभ भी हो जाएगा और धर्म-प्रभावना भी होगी। तुम सभी को अब बाहर रहकर धीरे-धीरे सब बातें सीखनी हैं।"

संघ में पहली बार हम लोगों पर यह जिम्मेदारी आई थी, सो हम घबराए कि ऐसा तो कभी सोचा भी नहीं था। हम तो अपना जीवन आचार्य महाराज के चरणों में समर्पित करके निश्चिंत होकर आत्म-कल्याण में लगे थे। कुछ समझ में नहीं आया। गुरु की आज्ञा अनुलंघनीय हुआ करती है, पर मन को कैसे समझाएँ ? मन भर आया। हमने कहा कि "महाराज जी ! आपसे दूर रहकर हम क्या करेंगे ? कैसे रह पाएँगे ?

आचार्य महाराज गम्भीर हो गए। बोले - "मन से दूर चले जाओगे क्या ?" हमने फौरन कहा कि "यह तो कभी सम्भव ही नहीं। स्वप्न में भी नहीं।" तब वे हँसने लगे। बोले कि "जाओ हमारा खूब आशीर्वाद है। घबराना नहीं। अध्यात्म में मन लगाना। मेरी आज्ञा में रहने वाला मुझसे दूर रहकर भी मेरे अत्यन्त समीप ही है और मेरी आज्ञा नहीं मानने वाला मेरे निकट रहकर भी मुझसे बहुत दूर है।"

आज भी हम उनसे दूर रहकर भी उन्हें अपने अत्यन्त समीप पाते हैं। कभी दूरी का अहसास नहीं होता। सचमुच, गुरु की आज्ञा में रहना ही सच्चा सामीप्य है।

नैनागिरि (1986)

कर्त्तव्य की प्रेरणा

जिनबिंब-प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव का आयोजन था। अपार जन-समूह के बीच पहली बार आचार्य महाराज ने आर्यिका-दीक्षाएँ दीं। एक ही मंच पर ग्यारह आर्यिका और बारह क्षुल्लक दीक्षाएँ सम्पन्न हुईं। क्षेत्र की माटी का कण-कण उस दिन महाराज के चरणों में विनत हुआ। सन् 1978 में इसी पावन क्षेत्र पर हमने आचार्य महाराज को अपने चार-पाँच शिष्यों के साथ आत्म-साधना में लीन रहते देखा था। आज आठ-नौ वर्षों बाद एक साथ छियालीस मुनि, आर्यिका, ऐलक व क्षुल्लक के विशाल परिकर के बीच उन्हें उतना ही निर्लिप्त व आत्मस्थ देखकर मन गद्‌गद हो उठा।

सुबह आचार्य-वन्दना के समय अत्यन्त भाव-विह्वल होकर हमने कहा कि ''महाराज जी, आज हम सभी के लिए थोड़ा कुछ संदेश दीजिए। उन्होंने क्षण भर हमारी ओर देखकर बड़ी आत्मीयता से कहा कि ''तुम सभी पुण्यात्मा हो। पूर्व संचित पुण्य के फलस्वरूप एक साथ धर्म-मार्ग पर बढ़ रहे हो। मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन हमेशा बनाए रखना। जब प्रवृत्ति करो तो यह मानकर चलना कि सभी एक साथ हैं और मोक्षमार्गी हैं, सो परस्पर सहयोगी बनना, हमारा पहला कर्तव्य है। लेकिन सामायिक के समय सबसे निवृत्त होकर अपने को एकाकी ही मानना और अनुभव करना कि आत्मस्थ होना ही हमारा परम कर्तव्य है। यही हमारा तुम सबके लिए संक्षेप में संदेश है।''

सभी ने सुना, मन अत्यन्त हर्षित हुआ। उस दिन लगा कि आचार्य महाराज ने जो स्वयं जिया, उसे ही हमें दिया।

नैनागिरि (1987)

सद्भाव

पंचकल्याणक पूरे हुए। गजरथ की प्रदक्षिणा होनी थी। दो-तीन लाख लोग क्षेत्र पर उपस्थित हुए थे। यह सब आचार्य महाराज के पुण्य-प्रताप का फल था। देखते ही देखते यथासमय गजरथ की फेरी सम्पन्न हो गई और महाराज संघ-सहित प्रतिष्ठा-मंच पर विराज गए। आशीर्वचन सुनने का सभी का मन था। इसी बीच कई लोगों ने एक साथ आकर अत्यन्त हर्ष-विभोर होकर कहा कि "आज जो भी हुआ, वह अद्भुत हुआ है, उसे आपका आशीर्वाद और चमत्कार ही मानना चाहिए। आज के दिन इतने कम साधनों के बावजूद भी लाखों लोगों के लिए पानी की पूर्ति कर पाना सम्भव नहीं था। हम सभी व्यवस्था करके हताश हो गए थे। प्रशासन ने चार-पाँच ट्यूबवेल खोदे थे; किन्तु पर्याप्त मात्रा में पानी न मिलने पर वह प्रयास भी निष्फल रहा। टैंकर से पानी की व्यवस्था कहाँ तक पूरी हो पाती, पर जैसे ही गजरथ की फेरी प्रारम्भ हुई, गजरथ स्थल के समीप, जहाँ आपके आशीर्वाद से एक ट्यूबवेल खोदा गया था, उसमें खूब पानी निकला। सभी लोगों ने पूरी फेरी होने तक पानी पिया, इस तरह आपके आशीष व कृपा से यह समस्या हल हो गई। चमत्कार हो गया।"

आचार्य महाराज ने बड़ी शान्ति से सारी बात सुनी, फिर अत्यन्त निर्लिप्त होकर कहा कि "भैया ! धर्म की प्रभावना तो चतुर्विध संघ के द्वारा इस पंचमकाल में निरन्तर होती रहेगी, इसमें हमारा क्या है ? जहाँ हजारों-लाखों लोगों की सद्भावनाएँ जुड़ती हैं वहाँ कठिन से कठिन काम भी आसान हो जाते हैं। भव्य-जीव इस पावन क्षेत्र पर आकर प्यासे कैसे लौट सकते हैं, सभी की प्यास बुझे - ऐसी परस्पर सद्भावना ही आज के इस कार्य में सफलता का कारण बनी है, हम तो निमित्त मात्र हैं।"

सुनकर सभी दंग रह गए। स्वयं को ख्याति, पूजा, लाभ से बचाए रखने वाले ऐसे निस्पृही आचार्य का समागम मिलना हमारा/सभी का सौभाग्य ही है।

नैनागिरि (1987)

वीतरागी से अनुराग

आचार्य महाराज संघ सहित विहार कर रहे थे। खुरई नगर में प्रवेश होने वाला था। अचानक एक गरीब-सा दिखने वाला व्यक्ति साइकिल पर अपनी आजीविका का बोझ लिए समीप से निकला और थोड़ी दूर आगे जाकर ठहर गया। जैसे ही आचार्य महाराज उसके सामने से निकले, वह भाव-विह्वल होकर उनके श्रीचरणों में गिर पड़ा। गद्‌गद कंठ से बोला कि "भगवान राम की जय हो।" आचार्य महाराज ने क्षण भर को उसे देखा और अत्यन्त करुणा से भरकर धर्मवृद्धि का आशीष दिया और आगे बढ़ गए। वह व्यक्ति हर्ष-विभोर होकर बहुत देर तक, आगे बढ़ते हुए आचार्य महाराज की वीतराग छवि को अपलक देखता रहा।

इस घटना को सुनकर मुझे लगा कि वीतरागता के प्रति अनुराग हमें अनायास ही आत्म-आनन्द देता है। उन क्षणों में उस व्यक्ति की आँखों में आचार्य महाराज की वीतराग छवि अत्यन्त मधुर और दिव्य रही होगी, जो हम सभी को आत्म-कल्याण का संदेश देती है।

खुरई (1988)

दूरदर्शिता

टड़ा ग्राम में गजरथ महोत्सव होना था। वहाँ के लोग आचार्य महाराज से निवेदन करने आए। महाराज जी ने हम तीन-चार साधुओं को बुलाकर वहाँ जाने का संकेत कर दिया। हमने उनके चरणों में माथा टेककर आज्ञा स्वीकार कर ली और जाना तय हो गया। विहार करने से पहले हम सभी को अपने समीप बुलाकर आचार्य महाराज ने समझाया कि सुनो, ''छोटे-छोटे से गाँवों में होकर जाना है, दो-चार लोग भी आकर यदि निवेदन करें तो धर्म की दो बातें करुणाभाव से उन्हें सुनाना। धर्मोपदेश तो स्व-पर कल्याण के लिए है। कम लोग हैं, ऐसा सोचकर मना मत करना। दूसरी बात, वहाँ जो भी आगम के अनुकूल आत्म-कल्याण में लगे हुए साधुजन आएँ, उन्हें यथायोग्य विनय करना और राग-द्वेष से बचना। तीसरी बात, भगवान के दीक्षा-कल्याणक के समय अपनी तरफ से दीक्षा-संस्कार करने का आग्रह मत करना, भगवान तो स्वयं दीक्षित होते हैं।''

हम सभी ने तीनों बातें मार्ग में पाथेय की तरह अपनी स्मृति में बाँधकर रख ली और महाराज जी का आशीर्वाद लेकर चल पड़े। रास्ते में वही हुआ। छोटे-छोटे गाँव मिले। सभी को धर्मोपदेश दिया, खूब आनन्द आया। मार्ग में दो साधु-संघों से मिलना हुआ, सभी से यथायोग्य विनय की। कहीं कोई मुश्किल नहीं आई।

दीक्षा कल्याणक का दिन आया। सभी साधु-संघ एक ही मंच पर उपस्थित थे। उनमें एक मुनिराज हमसे दीक्षा में ज्येष्ठ थे। दीक्षा-विधि उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होना चाहिए, ऐसा हमारा सोचना था, पर अचानक मंच पर सभी ने हमसे दीक्षा-विधि सम्पन्न करने का आग्रह किया। सभी का आग्रह देखकर आचार्य महाराज की जय-जयकार के साथ हमने दीक्षा-विधि सम्पन्न की। सारा वातावरण पवित्र हो गया। हमारी आँखें भर आईं । सभी के पूछने पर जब हमने महाराज जी के द्वारा दी गई तीन शिक्षाएँ लोगों को बताईं, तब सभी आचार्य महाराज की दूरदर्शिता की सराहना करके उनकी जय-जयकार करने लगे।

टड़ा (1989)

आत्मीयता

टड़ा से वापिस लौटकर आचार्य महाराज की आज्ञा से महावीर-जयन्ती सागर में सानंद सम्पन्न हुई, फिर आदेश मिला कि ग्रीष्मकाल में कटनी पहुँचना है। गर्मी दिनोंदिन बढ़ रही थी। तेज धूप, और लम्बा रास्ता, पर मन में गहरी श्रद्धा थी। गुरु के आदेश का पूरे मन से पालन करना ही शिष्यत्व की कसौटी है। आदेश मिलते ही उसी दिन दोपहर में हमने विहार करने का मन बना लिया और सामायिक में बैठ गए।

सामायिक से उठकर बाहर आए तो देखा कि आकाश में बादल छा रहे हैं। धूप नम हो गई है। हमने तुरन्त विहार कर दिया और बड़ी आसानी से शाम होने से पहले लगभग बीस किलोमीटर रास्ता तय कर लिया। फिर तो प्रतिदिन ऐसा ही हुआ। कटनी पहुँचने तक प्रतिदिन दोपहर में बादल छा जाते और हमारी यात्रा आसान हो जाती।

कटनी पहुँचकर जब हमें मालूम पड़ा कि आचार्य महाराज ने दो-तीन बार चिन्ता व्यक्त की थी कि 'आदेश तो हमने दे दिया, पर मई का महीना है, धूप बहुत कड़ी है, विहार में मुश्किल न हो।' तब हम विस्मय और आनन्द से भर गए। इतनी दूर रहकर भी अपने शिष्यों के प्रति आचार्य महाराज की आत्मीयता इतनी सघन है कि पथ में छाया बनकर वही हमें सँभालती व शीतलता देती रही। उनकी अनुकम्पा अपरम्पार है।

कटनी (1989)

तितिक्षा

जबलपुर से मुक्तागिरि की ओर आचार्य महाराज का विहार हुआ। मुलताई के आसपास रास्ते में एक दिन बहुत तेज बारिस आ गई। थोड़ी देर पानी बरसता रहा, फिर थम गया। महाराज मुस्कराए और आगे बढ़ते-बढ़ते बोले, "भाई, इतनी जल्दी थककर थम गए। हम तो अभी नहीं थके।" उनका इशारा बादलों की ओर था। सभी हँसने लगे।

आचार्य महाराज ने इस तरह चलते-चलते एक सन्देश दे दिया कि कितनी भी बारिस आए, धूप हो या ठंड लगे; मोक्षार्थी को बिना थके सहज शान्त-भाव से अपने मोक्षमार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ते रहना चाहिए। कितनी छोटी सी बात, लेकिन कितना बड़ा उपदेश।

मुक्तागिरि (1990)

वीतरागता

धर्म-सभा का आयोजन था। आचार्य महाराज का प्रवचन होने वाला था। सहसा भीड़ में हलचल हुई और एक वृद्धा माँ मंच तक पहुँच गईं। स्वयंसेवक दौड़े, उन्हें रोकना चाहा, पर इस बीच वह प्रणाम निवेदित करके अपने कुछ स्वर्ण-आभूषण उतारकर महाराज के चरणों में अर्पित करने लगीं। सभी अवाक् देखते रह गए।

मालूम पड़ा कि वह वृद्धा माँ, जन्मना जैन नहीं हैं पर कर्मणा जैन अवश्य हैं। वह आज पहली बार आचार्य महाराज के दर्शन करके उनकी वीतरागता और त्याग तपस्या से अभिभूत होकर अपना सर्वस्व अर्पित करने को तैयार हो गईं। सचमुच, धर्म सभी का है। उसे हर कोई धारण कर सकता है। जो सच्ची दृष्टि दे, सच्चा ज्ञान दे और सच्चा रास्ता बताए, वही सच्चा धर्म है।

मुक्तागिरि (1990)

आत्म-बोध

मुक्तागिरि का चातुर्मास सानंद सम्पन्न हुआ। आचार्य महाराज संघ सहित रामटेक (अतिशय क्षेत्र) होते हुए बालाघाट पहुँचे। सुबह संघ सहित शौच-क्रिया के लिए जंगल की ओर गए। वहाँ वन-विभाग के आफिसर के बँगले पर दो शेर के बच्चे खेलते हुए मिले। सारा संघ क्षण-भर को वहाँ ठहर गया। वन-विभाग के आफिसर ने उन बच्चों के मिलने की जानकारी दी। आचार्य महाराज सारी बातें चुपचाप सुनते रहे, फिर सहसा बोले कि ''हे वनराज ! जैसे देश-काल की परिस्थितिवश आज तुम वन के स्थान पर भवन में रह रहे हो ऐसे ही वनों में निर्द्वन्द्व विचरण करने वाले मुनिराजों ने नगर में रहना स्वीकार तो कर लिया है; पर यह हमारा स्वभाव नहीं है। हमें अपना यथाजात, एकाकी, निर्द्वन्द्व विचरण करने का स्वभाव नहीं भूलना चाहिए।''

उन क्षणों में आचार्य महाराज की निस्पृहता और स्वभाव की ओर रुचि देखते ही बनती थी। सभी लोग उनके द्वारा दी गई इस अध्यात्म की शिक्षा से अभिभूत हो गए।

बालाघाट (1991)

विनम्र श्रद्धा

सिवनी के बड़े मन्दिर में आचार्य महाराज विराजे थे। वयोवृद्ध पंडित सुमेरुचंद्र जी दिवाकर उनके दर्शन करने आए। तत्त्वचर्चा चलती रही। जाते समय पंडित जी बोले कि महाराज, ''हमें तो आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने एक बार मन्त्र जपने के लिए माला दी थी, जो अभी तक हमारे पास है।'' पंडित जी का आशय था कि आप भी हमें कुछ दें, पर आचार्य महाराज तत्काल बोले कि ''पंडितजी! हमें तो हमारे आचार्य महाराज मालामाल कर गए हैं।'' माला की लय में मालामाल सुनकर सभी हँसने लगे।

इस स्वस्थ मनोविनोद में अपने पूर्वाचार्यों के प्रति विनम्र-श्रद्धा, उनसे प्राप्त मोक्षमार्ग के प्रति गौरव और अपनी लघुता - ये सभी बातें छिपी थीं। साथ ही एक संदेश भी पंडितजी के लिए या शायद सभी के लिए था कि, चाहो तो महाव्रती होकर स्वयं भी मालामाल हो जाओ, अकेली माला कब तक जपते रहोगे ?

सिवनी (1991)

अनुशासन

मैंने सुना है एक दिन रात्रि के समय जब लोग आचार्य महाराज की सेवा में व्यस्त थे तब किसी की ठोकर लगने से तेल की शीशी गिर गई। शीशी का ढक्कन खुला था सो तेल भी फैल गया। सभी थोड़ा घबराए, पर आचार्य महाराज मुस्कराते रहे। सुबह आचार्य वन्दना के बाद आचार्य महाराज चर्चा करते-करते बोले कि "देखो शिष्य और शीशी दोनों में डाट लगाना कितना जरूरी है। जैसे शीशी में डाट (ढक्कन) न लगा हो तो उसमें रखी कीमती चीज गिर जाती है, ऐसे ही शिष्य को डाँट (अनुशासन के लिए कठोरता) न लगाई जाए तो स्वच्छन्द होने और मोक्षमार्ग से विचलित होने या गिर जाने की संभावना बढ़ जाती है।"

शीशी गिरने की इस जरा-सी घटना से इतना बड़ा संदेश दे देना यह आचार्य महाराज की विशेषता है।

शिष्टाचार

आचार्य महाराज कभी किसी से आने-जाने या ठहरने के बाबत कोई चर्चा नहीं करते। एक बार महाराज से किसी ने कहा कि महाराज आप अपने पास आने-जाने वाले व्यक्ति से बैठने के लिए भी नहीं कहते। अच्छा नहीं लगता। इतना शिष्टाचार तो साधु के द्वारा होना चाहिए।

आचार्य महाराज ने सारी बात बड़े ध्यान से सुनी और मुस्कुराकर बोले - "भैया, यह स्थान मेरा तो है नहीं, जो यहाँ बैठने के लिए कहूँ। साथ ही आने-जाने की अनुमोदना भी मैं कैसे कर सकता हूँ, क्योंकि आने-जाने वाला तो वाहन का उपयोग करेगा, जिसका मैं त्याग कर चुका हूँ और मान लो, वह व्यक्ति मात्र दर्शन करके जाना चाहता हो तो मेरे कहने से उसे जबरदस्ती बैठना पड़ेगा।"

आचार्यों का उपदेश तो साधु के लिए केवल इतना ही है कि वे आने वाले व्यक्तियों को हाथ की अभय-मुद्रा से कल्याण का संकेत दे और मुख पर प्रसाद (प्रसन्नता) बिखेर दे। यही शिष्टाचार पर्याप्त है। यही साधु की विनय है। कितना अनासक्त और सुविचारित है उनका शिष्टाचार।

अनुभूति

आचार्य महाराज की आज्ञा से हम 5-6 साधक सतना में चातुर्मास करके लौट रहे थे। आचार्य महाराज के दर्शन हमें लगभग डेढ़ वर्ष से नहीं हुए थे। मन में दर्शन की बड़ी आतुरता थी। जबलपुर के समीप पहुँचने पर मालूम हुआ कि महाराज जी, शीघ्र ही जबलपुर पहुँच रहे हैं। अत्यन्त हर्ष-विभोर होकर हम उन्हें लिवाने जबलपुर से बरगी की ओर चल पड़े। कुछ दूर चलने पर रास्ते में ही महाराज जी के दर्शन-वंदन का सौभाग्य मिल गया।

जब उनके साथ-साथ हम जबलपुर की ओर आ रहे थे तब रास्ते में हमने सतना के चातुर्मास की सफलता की चर्चा की और कहा कि जो भी बन पड़ा आपकी कृपा से हमने किया; सब अच्छे से हो गया। साधना, स्वास्थ्य और स्वाध्याय की अनुकूलता रही। आचार्य महाराज सब सुनते रहे और सुनकर हँसने लगे, बोले - "कृपा तो हम सभी पर आचार्य ज्ञानसागर महाराज की है। भगवान महावीर के धर्म-तीर्थ की सेवा करना और अपने आत्म-हित के साथ-साथ सभी के हित की भावना रखना हमारा कर्त्तव्य है।" उनकी अपने गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति और समर्पण उन क्षणों में देखते ही बनता था। इतने में जैसे ही अचानक उन्हें अन्य साधुओं के कहने पर याद आया कि आज के ही दिन बारह वर्ष पहले मेरी क्षुल्लक दीक्षा हुई थी, तो तुरन्त मेरा हाथ अपने हाथ में पकड़कर खूब हर्ष व्यक्त करते हुए कहा कि "चलो, अभी तो इस मोक्षमार्ग पर अपने को बहुत आगे बढ़ना है।"

उनका स्नेह-स्पर्श पाकर और उनकी वाणी से झरते अमृत-वचन सुनकर हृदय भर आया। आँखें आसुओं से भीग गईं। उन आत्मीय-क्षणों की स्मृति आज भी मुझे सहारा और प्रेरणा देती है।

जबलपुर (10 जनवरी, 1992)

आत्म-ध्यान

आचार्य महाराज संघ सहित सद्‌गुंवा ग्राम से चलकर खुरजाखेड़ा आए। संघ के सभी साधु निरन्तर विहार के कारण थकान महसूस कर रहे थे। सामायिक का समय होने वाला था। अचानक आचार्य महाराज बोले कि "मन कहता है शरीर को थोड़ा विश्राम दिया जाए।" सभी शिष्यों ने एक स्वर में महाराज जी की बात का समर्थन किया और कहा कि "हाँ, महाराज जी ! आप थोड़ा विश्राम कर लें।" आचार्य महाराज हँसने लगे और तत्काल बोले कि "मन भले ही विश्राम की बात करे, पर आत्मा तो चाहती है कि सामायिक की जाए।" और देखते-ही-देखते आचार्य महाराज दृढ़ आसन लगाकर सामायिक में लीन हो गए। सभी लोग यह देखकर दंग रह गए। आचार्य महाराज की यह आत्मानुशासित जीवन-चर्या सचमुच अनुपम है।

खुरजाखेड़ा (दमोह) 1995

❑❑❑

बाल भवन शिवपुरी
पुस्तकालय
Bal Bhawan Shivpuri

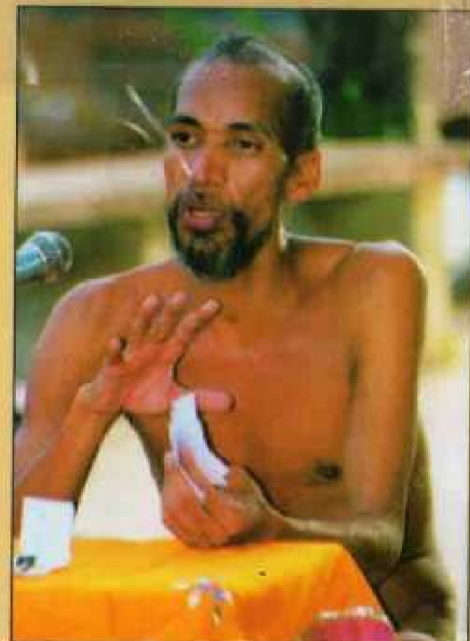

मुनि श्री क्षमासागरजी

जन्म	: 20 सितम्बर, 1957, सागर (म.प्र.)
समाधि	: 13 मार्च, 2015
शिक्षा	: सागर विश्वविद्यालय एम.टेक.
पूर्व नाम	: सिंघई वीरेन्द्र कुमार
माता	: श्रीमती आशादेवी
पिता	: श्री जीवन कुमार सिंघई
क्षुल्लक दीक्षा	: (नैनागिरि, 10 जनवरी, 1980)
ऐलक दीक्षा	: (मुक्तागिरि, 7 नवम्बर, 1980)
मुनि दीक्षा	: (नैनागिरी, 20 अगस्त 1982) (भाद्रपद शुक्ला दूज)
काव्य-संग्रह	: 1. पगडंडी सूरज तक (1992) 2. मुनि क्षमासागर की कविताएँ 3. अपना घर 4. मैं तुम्हारा हूँ
अनुवाद	: एकीभाव स्तोत्र
संस्मरण	: 1. आत्मान्वेषी 2. अमूर्त शिल्पी
संकलन	: जैन दर्शन-पारिभाषिक कोश
प्रवचन संग्रह	: 1. गुरुवाणी 2. द्रव्य संग्रह 3. सोलहकारण भावना 4. कर्म कैसे करें? 5. जीवन के अनसुलझे प्रश्न

आत्मान्वेषी

"जन्म से ही तुम्हारी देह का उजलापन और चेहरे पर खेलती मुस्कान सभी को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। जो भी देखता, तुम्हें गोद में उठाने के लिए बेचैन हो उठता था। अब तो वीतराग सौन्दर्य ने जन्म के उस आकर्षण को दोगुना कर दिया है। जो भी आता है वह तुम्हें नितान्त अपना मान बैठता है और सारा जगत मानो उसे पराया हो जाता है।"